सीताराम सेकसरिया

बीता युग नई याद

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

V2wN 2022

बीता युग नई याद

राष्ट्र और समाज की विभूतियों के
संस्मरण तथा अन्य प्रसंग

सीताराम सेकसरिया

१९७०
सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९७०
मूल्य
[redacted]
संशोधित मूल्य 6)

मुद्रक
साहित्य प्रिंट द्वारा
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

'मण्डल' से संस्मरणों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन संग्रहों को पाठकों ने इतना पसंद किया है कि उनके कई-कई संस्करण हुए हैं। उनकी मांग बराबर बनी रहती है।

हमें हर्ष है कि उसी शृंखला में एक नई पुस्तक पाठकों को उपलब्ध हो रही है। इसके लेखक उन देश-सेवियों में से हैं, जिन्हें भारत के बड़े-बड़े राजनेताओं, साहित्यकारों, समाज-सेवियों आदि के निकट संपर्क में आने का अवसर मिला। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं राष्ट्रीय एवं सामाजिक आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया। यही कारण है कि उनके संस्मरणों में बड़ी सजीवता है। प्रत्येक संस्मरण को पाठक रसपूर्वक पढ़ता है।

पुस्तक की सामग्री छः खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में गांधीजी तथा उनके सहकर्मियों के संस्मरण हैं, दूसरे में स्वाधीनता के सेनानियों के, तीसरे में संस्कृति एवं साहित्य की विभूतियों के और चौथे में बिछुड़े साथियों के। इन खण्डों में जिन व्यक्तियों का चित्रांकन किया गया है, उनके नाम से अधिकांश पाठक परिचित हैं, लेकिन पुस्तक के पांचवें और छठे खण्डों में लेखक ने उन व्यक्तियों के जीवन-प्रसंग दिये हैं, जिन्हें कोई नहीं जानता, लेकिन जिनकी रोमांचकारी गाथाएं पढ़कर पाठक स्तब्ध रह जाते हैं। पुस्तक को समाप्त कर देने के बाद भी बहुत देर तक उन पात्रों की स्मृति मन पर बनी रहती है।

पुस्तक सरस है, पर उससे भी अधिक प्रेरणादायक तथा शिक्षाप्रद है। यह उस युग की याद दिलाती है, जो बीत चुका है, लेकिन जिसके बिना न वर्त्तमान का निर्माण हो सकता है, न भविष्य का।

आशा है, यह पुस्तक सभी क्षेत्रों में चाव से पढ़ी जायगी।

—मंत्री

दो शब्द

वीस साल पहले मेरे कुछ लेखों का संग्रह 'स्मृति कण' के नाम से प्रकाशित हुआ था। समय-समय पर मैं जो कुछ लिखता रहा, उसकी कोई कतरन आदि मैंने नहीं रखी, इसलिए उनका संग्रह प्रकाशित करने में बड़ी कठिनाई थी। अपनी रचनाओं को मैंने कभी महत्व नहीं दिया। इसलिए उनका संग्रह प्रकाशित करने की कल्पना भी नहीं आई। फिर भी कुछ मित्रों के आग्रह और प्रयत्न से 'स्मृति कण' की भूमिका पूज्य काका साहब कालेलकर ने लिखने की कृपा की तो वह अच्छा लगने लगा। उसके प्रकाशन के वाद के इन वीस वर्षों में भी समय-समय पर लिखता रहा और फिर वात चली कि इनका संग्रह प्रकाशित किया जाय। मुझे फिर लगा कि मैंने कुछ ऐसा लिखा कहां है, जिसे संग्रह के रूप में प्रकाशित किया जाय ! पर साथ ही इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अपना लिखा प्रकाशित होता है तो खुशी ही होती है। इसलिए जब चि० सत्यनारायण ने मेरे पुराने और हाल के लेखों का संग्रह करने की कोशिश की तो मैं उसका विरोध न कर सका। उसके प्रयत्न से ही नये-पुराने लेखों में से कुछ चुनकर यह संग्रह तैयार हुआ है।

मुझे झिझक है कि यह कैसा, क्या है ! मैंने कभी लिखने के लिए नहीं लिखा। जो लिखा, वह किसी-न-किसी प्रकार की बाध्यता और दवाव के कारण लिखा। इसलिए इन लेखों में मेरे मन की वात है। भाषा-शैली और साहित्यिकता का दावा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि इनमें मेरी कोई गति नहीं। मैंने इनमें अपने मन की बात, अपनी बोलचाल की भाषा में, लिखकर अपने आपको संतोष कराने का प्रयत्न किया है। एक बात यह है कि परिस्थिति-जन्य विचार मन में आये और उस

स्थिति में क्या करना चाहिए, यह सब मैंने लिख दिया, जो एक तरह से प्राणों की वात है—मन की उथल-पुथल का सही तानावाना है। हो सकता है, ऐसा ही स्पंदन किसी के मन में हो तो उसको ये लेख अच्छे लग जायं।

संग्रह के कुछ लेख हमारे देश के कतिपय महान लोगों के बारे में हैं, जिनकी कृपा मुझे प्राप्त हुई और जिनको नजदीक से देखने और सुनने का मुझे अवसर मिला। इन महापुरुषों की अनेक वातें हैं और अनेकों ने उन्हें लिखा भी है और मैंने भी 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' के अनुसार ही लिखा है। मैंने लिखा, उनसे उन महापुरुषों का जीवन कहीं अधिक महान है, पर मैं अपने पात्र के अनुसार ही उस समुद्र से जल भर सका हूं।

यह संग्रह हिन्दी जगत के सामने रखने में संकोच है तब भी रख रहा हूं। 'छमिहहिं सज्जन मोर ढिठाई।' इस वात की थोड़ी खुशी है कि संग्रह 'सस्ता साहित्य मंडल' प्रकाशित कर रहा है, जिसकी स्थापना पूज्य जमनालालजी ने की थी। गांधी-साहित्य के प्रकाशन में 'मंडल' का महत्वपूर्ण स्थान है। गांधीजी और स्वतंत्रता-संग्राम पर 'मंडल' की प्रकाशित पुस्तकों को एक समय वहुत लोगों ने पढ़ा। उसके मधुर और सुगंधमय पुष्पों में यह संग्रह, जैसा भी वह है, मिलकर शायद किसी के कुछ काम का हो जाय।

—सीताराम सेकसरिया

१६, लार्ड सिनहा रोड
कलकत्ता-१६

विषय-सूची

बीता युग
नई याद

गांधीजी और उनके सहकर्मी

१ : गांधीजी के प्रथम दर्शन

गांधीजी जब दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह चला रहे थे, तब 'प्रताप' साप्ताहिक में एक कविता पढ़ी :

"धन्य धर्मवीर गांधी !
धीरों में धीर तू है,
धन्य कर्मवीर गांधी,
वीरों में वीर तू है।"

इस कविता से गांधीजी के बारे में जानने की मेरी इच्छा जागृत हुई। इसके बाद सन् १९१५ में गांधीजी हिन्दुस्तान आये तो माडरेट पार्टी ने, जो उन दिनों हिन्दुस्तान की मुख्य राजनैतिक पार्टी थी, उन्हें कलकत्ता बुलाया। हजारों लोग हावड़ा स्टेशन पर उनके स्वागत और दर्शनों के लिए गये। गांधीजी तीसरे दर्जे से उतरे। काठियावाड़ी पगड़ी, लम्बा अंगरखा, दुपट्टा, किन्तु पैर नंगे। कस्तूरबा भी साथ थीं। वह एक मामूली-सी मोटी रंगीन साड़ी पहने हुए थीं।

उन दिनों मोटर का बहुत चलन नहीं था और मोटर की सवारी बहुत सम्मान की भी नहीं मानी जाती थी। जमींदारों, रईसों के यहां दो घोड़ों की जोड़ी गाड़ी रहती थी, जिसपर वे शाम को हवाखोरी के लिए निकलते थे। वैसी ही एक जोड़ी गाड़ी में गांधीजी और कस्तूरबा को बिठाया गया। गांधीजी के इंकार करने पर भी लोगों ने एक न सुनी। गाड़ी के घोड़े खोल

दिये गए। जनता ने गाड़ी को खींचा। प्रथम दर्शन का दृश्य आज भी आंखों के सामने ज्यों-का-त्यों है। शाम को एक सभा थी, जिसमें गांधीजी का व्याख्यान था। यह सभा शायद युनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट में थी। महाराज कासिम वाजार मणीन्द्रनाथ नन्दी सभापति थे। इस सभा में माडरेट पार्टी के सभी नेता आये थे। गांधीजी जब बोलने के लिए उठे तो उनके व्याख्यान को सुनने की लोगों में बड़ी उत्सुकता थी, पर जब वह बोलने लगे तो बहुत-से लोगों को लगा कि यह आदमी देखने में जैसा साधारण है, वैसा ही बोलने में भी साधारण है; न कोई जोश है, न कोई प्रभावशाली बात कहता है। जैसे किसी मूर्ति में से आवाज आती हो, वैसा लगता है, शरीर तक भी नहीं हिलता। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और विपिनचन्द्र पाल की जोशीली बुलन्द आवाज में व्याख्यान सुननेवाले लोगोंको कुछ लगा ही नहीं। लाउड स्पीकर की तो उन दिनों कल्पना भी नहीं थी। व्याख्यान में ऊंचा गला जितना काम करता था, दूसरी बातें उसकी तुलना में कम रहती थीं। फिर भी कुल मिलाकर ऐसा आभास हो रहा था कि जो कुछ कहा जा रहा है, उसमें दिखावट या लोगों पर प्रभाव डालने की कोशिश नहीं, बल्कि बोलनेवाले के दिल की सचाई है।

इसके बाद दूसरी बार गांधीजी कलकत्ता आये और टाउन हाल में कुली-प्रथा के विरुद्ध उनका व्याख्यान हुआ। वह भी मैं सुनने गया। व्याख्यान समाप्त होने पर गांधीजी पैदल ही चल पड़े, तो पहले-पहल उनके चरण-स्पर्श का मौका मिला। टाउन हाल से वह अपने सबसे बड़े लड़के हरिभाई (हरिलाल गांधी) के यहां, जो राधाबाजार के एक मकान में रहते थे, गये। सैकड़ों आदमी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। गांधीजी की तेज चाल के साथ न चल सकनेवाले लोगों का साथ छूटता जाता था। ऐसे लोगों की संख्या काफी थी।

तीसरी बार सन् १९१७ में कलकत्ता-कांग्रेस के मौके पर, जो श्रीमती ऐनी बेसेंट के सभापतित्व में हुई थी, गांधीजी को देखने का मौका मिला। इस कांग्रेस तक माडरेट पार्टी का कांग्रेस पर पूरा-पूरा अधिकार था। इस कांग्रेस में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भी आये। लोकमान्य ही उन दिनों भारत के सबसे बड़े राजनैतिक नेता थे। उनकी भी गाड़ी के घोड़े खोल

दिये गए और जनता ने उसे खींचा। गांधीजी जमनालालजी के अतिथि थे। इसलिए सारा प्रवन्ध हम लोगों के हाथ में ही था। लोकमान्य को भी वड़ावाजार के एक मोहल्ले में ठहराया गया था और उसका प्रवन्ध भी वड़ावाजार के लोगों ने ही किया था। इस प्रकार भारत के दो बड़े नेताओं को, जिनमें एक वर्तमान का सबसे वड़ा नेता था और दूसरा भविष्य का, हम लोगों को देखने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लोकमान्य वहुत ही तेजस्वी और महान् लगते थे, समुद्र जैसी गम्भीरता और गहराई के सामने जाने या उनकी सेवा करने का साहस नहीं होता था। इसके विपरीत गांधीजी की सरलता, निर्मलता, सादगी, मितव्ययिता, हर चीज के समय का हिसाव, आदि वातों के कारण उनके निकट जाने में भय नहीं लगता था।

उन्हीं दिनों कांग्रेस के साथ राष्ट्रभाषा सम्मेलन का भी प्रारम्भ हुआ। लोकमान्य इसके सभापति थे। यह सम्मेलन का शायद दूसरा अधिवेशन था। इस सम्मेलन में कांग्रेस तथा वंगाल के सभी नेताओं ने भाग लिया। प्रायः लोग अंग्रेजी में बोले। सरोजिनी देवी भी अंग्रेजी में वोलीं। लोकमान्य का सभापति का भाषण भी अंग्रेजी में हुआ। गांधीजी जब बोलने खड़े हुए तो उन दिनों जैसी उनकी हिन्दी थी उसमें बोले। उन्होंने कहा कि लोकमान्य हमारे सबसे वड़े नेता हैं और वह जो चाहें, करें, वह महत्व का है, पर राष्ट्रभाषा सम्मेलन का सभापति यदि विदेशी भाषा में बोले तो वह राष्ट्रभाषा सम्मेलन कैसा? लोकमान्य ने तुरन्त कहा, "आप ठीक कहते हैं, पर मेरी तो लाचारी है कि मैं जरा भी हिन्दी नहीं जानता।" गांधीजी ने बड़ी नम्रता से कहा, "आप मराठी जानते हैं, संस्कृत जानते हैं, जो हमारे देश की भाषाएं हैं।" फिर कहा, "यह सरोजिनी देवी (हिन्दूस्तान की वुलवुल), जो वहुत अच्छी उर्दू जानती हैं, यह भी क्या अंग्रेजी में ही बोल सकती हैं?" इस प्रकार इस सम्मेलन में गांधीजी ने हवा ही वदल दी। इसके वाद बोलनेवालों में एक भी आदमी अंग्रेजी में नहीं वोला। सव अपनी भाषा या हिन्दी में बोले। शाम को लोकमान्य का सार्वजनिक भाषण था, जिसमें उन्होंने कहा कि आज मैं पहले-पहल हिन्दी में बोल रहा हूं। मेरी भाषा-सम्बन्धी कितनी गलतियां होंगी, यह मैं नहीं

जानता, पर मैं मानता हूं कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है और हमें इसमें ही अपना काम करना चाहिए। लोकमान्य का व्यक्तित्व और प्रभाव अद्भुत था। सभा में ज्यादा संख्या बंगालियों की थी, पर सबने शान्तिपूर्वक उनके व्याख्यान को सुना और बहुत धीरे-धीरे, घरेलू शब्दों में, सरलभाषा में काफी प्रभावशाली व्याख्यान हुआ।

इसके पश्चात् सन् १९१८ में गांधीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बने। राष्ट्रभाषा के लिए जीवन-भर उन्होंने जो काम किया, वह एक अलग प्रसंग है और बहुत बड़ा है। इसी बीच चम्पारन सत्याग्रह, खेड़ा जिला सत्याग्रह तथा अहमदाबाद मिल मजदूर झगड़े का अनशन, इन तीन आन्दोलनों में गांधीजी ने जो सफलता प्राप्त की तथा उन्होंने जो नई दिशा दी, उससे उनके प्रभाव में काफी वृद्धि हुई। गांधीजी के प्रति देश हृदय से श्रद्धान्वित हो रहा था। इसी बीच रौलट एक्ट का आन्दोलन आ गया और इसके विरोध में सारे देश में प्रदर्शन हुए, जो अपने ढंग के निराले थे। इन सबका नेतृत्व गांधीजी ने किया। इस सिलसिले में अमृतसर के जलियांवाला बाग की सभा में जनरल डायर ने गोली चलाकर भयंकर हत्याकांड कर दिया, जिससे देश में ऐसी आग लगी, जो स्वाधीनता-प्राप्ति तक नाना रूपों में जलती रही।

इस कांड के कुछ ही दिनों बाद १९१९ के दिसम्बर में अमृतसर में कांग्रेस हुई, जिसके सभापति पं० मोतीलालजी थे। इस कांग्रेस में लोकमान्य तिलक आदि सभी नेता सम्मिलित हुए, पर मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड-सुधार पर जो प्रस्ताव आया, उसमें कांग्रेस के सभी नये-पुराने नेताओं को गांधीजी के प्रभाव का पता चल गया। सन् १९२० के सितम्बर में लाला लाजपतराय के सभापतित्व में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, जिसमें गांधीजी ने असहयोग का प्रस्ताव रखा और स्कूल कालेज, अदालत-कचहरी तथा विदेशी माल का बहिष्कार, सरकारी उपाधियों का त्याग, आदि का कार्यक्रम बताया। इस प्रस्ताव का सभी पुराने नेताओं ने विरोध किया, यहांतक कि लालाजी ने भी अपने सभापति के व्याख्यान में इसका विरोध किया। इस कांग्रेस तक मि० जिन्ना भी कांग्रेस में थे। इसके बाद सदा के लिए उन्होंने

कांग्रेस छोड़ दी। उनका तो विरोध होना ही था। समर्थन में केवल मोतीलालजी और अली-बन्धु थे। जहांतक मुझे याद है, नेताओं में प्रस्ताव के पक्ष में कोई नहीं बोला पर प्रस्ताव बड़े बहुमत से स्वीकार किया गया। चार महीने बाद नागपुर-कांग्रेस में यह प्रस्ताव, जो कलकत्ता की विशेष कांग्रेस में स्वीकृत हुआ था, सारे नेताओं के समर्थन के साथ एक प्रकार से सर्वसम्मत रूप से पास हो गया।

इस प्रकार सन् १९२० के दिसम्बर में देश ने सर्वमान्य नेता के रूप में गांधीजी को स्वीकार कर लिया और कांग्रेस पूर्ण रूप से गांधीजी की सलाह से चलने लगी। सन् १९१५ में गांधीजी भारत में आये थे। सन् १९२० में वह कांग्रेस के सर्वोच्च श्रद्धेय नेता स्वीकार कर लिये गए और महात्मा के नाम से पुकारे जाने लगे। तबसे सन् १९४७ तक स्वाधीनता प्राप्ति का इतिहास गांधी-युग का इतिहास है, जो महान्, अनोखा एवं प्राणवान तो है ही, विश्व के स्वाधीनता-इतिहास में भी एक नया अध्याय जोड़ता है।

बुद्ध और ईसा जैसे महापुरुषों ने अहिंसा के प्रभाव पर काफी जोर दिया, पर अहिंसक प्रतिकार की बात गांधीजी ने बतायी और उसको सामूहिक रूप दिया। उसका अनेक क्षेत्रों में अनेक बार प्रयोग किया और सफलता प्राप्त की। सबसे बड़ी बात यह है कि जिसका उन्होंने प्रतिकार किया, उसका भी प्रेम वह प्राप्त कर सके। यह उनके जीवन की महान सफलता और चरम साधना है। राजनैतिक उपलब्धियों से भी बहुत बड़ा, बहुत सच्चा, बहुत निर्मल और बहुत उदार रूप उनकी जीवन-साधना का है। उनके व्यक्तित्व की, उनके व्यवहार की और सम्बन्धों की छाप अनेकों के हृदयों में अंकित है।

गांधीजी के सम्पर्क का ज़रा-सा स्पर्श, जो भावना, जो संस्कार दे गया, वह आगे कभी मिटा नहीं। जिसे वह सत्य मानते थे, उसे करने की उनमें अचूक श्रद्धा और हिम्मत थी। शायद १९२८ की बात है। एक बार घनश्यामदासजी बिड़ला ने उनसे पूछा कि आपके अनेक कामों में कौन-सा ऐसा काम है, जिसे आप बड़ा काम मानते हैं ? उन्होंने कहा, "मैं तो बड़ा-छोटा सोचता नहीं, जो काम ईश्वर मुझसे कराता है, वह करता हूं,

पर तुम मुझे देख रहे हो,समझ रहे हो, मेरे कामों में तुम्हें सबसे बड़ा कौन सा लगता है ?" घनश्यामदासजी ने कहा, "आपके सभी काम बड़े हैं, पर बछड़े को जहर की सूई दिलवाने में आप पर बहुत जोर पड़ा होगा, या बहुत हिम्मत की आपने।" गांधीजी ने कहा, "इस काम का विरोध तो बहुत हुआ और आज इतने दिनों बाद भी मेरे पास अनेकों पत्र आते हैं, पर यह काम करने में मुझे न तो बहुत सोचना पड़ा, न कोई ज्यादा समय लगा। मैंने बछड़े की पीड़ा देखी और डाक्टर से कहा कि इसकी पीड़ा कम करने का उपाय करो। डाक्टर ने कहा कि इसकी पीड़ा तो इसकी मृत्यु से ही मिट सकती है, नहीं तो यह ऐसे ही तड़पेगा और मर जायगा। मैंने सोचा कि क्या मैं इसे मृत्यु दे सकता हूं ? लगा कि, हाँ, काका कालेलकर मेरे पास थे। उनको देखने के लिए कहा और उनकी राय ली तो उन्होंने मेरी राय का समर्थन किया। मैंने डाक्टर से सूई देने के लिए कह दिया, उसको कष्ट से छुटकारा मिल गया। यह एक साधारण घटना है, पर इसको निश्चय ही बड़ा तूल मिल गया है। मुझपर जोर पड़ा था चौरी-चौरा कांड के समय,बारडोली सत्याग्रह बन्द करने में और उसके बारे में मैंने तीन दिन तक सोचा था। उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं वे बहुत थीं।"

हो सकता है, इसकी भाषा और शब्दों में बहुत-कुछ फर्क रह गया हो, पर भाव-विचार जहा तक याद हैं, यही थे। उनके व्यक्तिगत सम्पर्क की अनेक बातें याद आती हैं। भारत के हर प्रांत में गांधीजी ने अपने व्यवहार और कार्यों से आदमी बनाये, जो गांधी-युग के विशेष आदमी बने। बिहार में पूज्य राजेन्द्रबाबू, गुजरात में सरदार पटेल, मद्रास में राजाजी, सिंध में जयरामदास दौलतराम और आचार्य कृपालानी, आसाम में बारदोलोई, कर्नाटक में गंगाधरराव देशपांडे, संयुक्त प्रांत में मोतीलालजी और जवाहरलालजी उड़ीसा में गोपबन्धु चौधरी, बंगाल में सतीश दास गुप्ता और प्रफुल्लचन्द्र घोष, हरदयाल नाग आदि, ।

पंजाब और बंगाल में वह चोटी के नेताओं को अपना पूर्ण अनुयायी नहीं बना पाये, फिर भी उनके कार्यों का प्रभाव वहां भी कम नहीं हुआ। इसके अलावा साधारण कार्यकर्त्ताओं को नई प्रेरणा, नई दिशा और देश-

समाज की सेवा करने के लिए प्रेरित करने में गांधीजी की जो देन है, वह इस युग की सबसे बड़ी देन है।

रचनात्मक कार्यों द्वारा देश के हर कोने से उनका तथा उनके कार्यकर्ताओं का अटूट सम्बन्ध स्थापित हो गया था। प्रत्येक कार्यकर्ता के सुख-दुःख में वह व्यक्तिगत रुचि ही नहीं रखते थे, उसकी पूरी संभाल भी करते थे। कार्यकर्ता उनके पास जाकर उनके सामने अपना सुख-दुःख, अपनी समस्याएं रखता और वहां से समाधान पाकर संतोष और नये बल का अनुभव करता। गांधीजी बहुत छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देते और उन बातों को जीवन की बुनियाद मानकर चलते। हर क्षण सावधान और जागरूक रहकर जीवन की पवित्रता और सत्य का आग्रह रखते तथा अपने साथ रहनेवाले आश्रमवासियों के जीवन को उन्नत बनानेके प्रयत्न करते।

दक्षिण अफ्रीका में ही उन्होंने इस प्रकार का कार्य आरंभ कर दिया था और फिनिक्स-आश्रम में मगनभाई जैसे लोग तैयार हो चुके थे। भारत में आने के बाद उन्होंने अपने आश्रम में ऐसे कार्यकर्ता तैयार किये, जीवन-साधक और शोधक बनाये, जैसे किशोरलालभाई, महादेवभाई, विनोबाजी, काकासाहब कालेलकर आदि, जो उनके दर्शन के प्रमुख व्याख्याता बने।

जमनालालजी जैसे व्यवहारकुशल लोगों को उन्होंने अपना बना लिया। एक बार उन्होंने कहा था कि मैं तो आटा पीसता हूं, रोटी तो जमनालाल ही बनाता है। देश की सेवा करने के लिए उन्होंने अनेक लोगों को प्रेरणा दी और शायद कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा, जिसपर उनकी छाप न हो। उनका उद्देश्य मानव-कल्याण था। वह राजनीति में पड़ने के लिए बाध्य हुए। वास्तव में जिसको लोग राजनीति कहते और मानते हैं वह उनकी राजनीति नहीं थी। जमनालालजी की मृत्यु पर श्राद्ध-दिवस के दिन प्रवचन करते हुए उन्होंने कहा था, "जमनालालजी के जीवन में राजनीति नहीं थी। मैं राजनीति में न पड़ता तो जमनालाल राजनीति में नहीं आता, पर पराधीन देश के लोगों को कुछ भी करना हो तो सबसे पहले स्वाधीनता प्राप्त करनी पड़ती है, इसलिए बरबस राजनीति में पड़ना पड़ता है।"

राजनैतिक आंदोलनों का पूरा नेतृत्व करने के साथ-साथ रचनात्मक कार्यों द्वारा देश की हर समस्या को उन्होंने क्रांतिकारी ढंग से सुलझाने की दिशा दी। सबसे पहले चर्खा-संघ बना, फिर गांधी सेवा संघ, हरिजन सेवक संघ बना। ग्राम उद्योग संघ, तालीमी संघ, आदि-संघों द्वारा आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक दृष्टि से हजारों कार्यकर्ता तैयार किये, जो देश के कोने-कोने में नाना रूपों में काम करते थे।

२ : गांधीजी : सत्य और सत्याग्रह

गांधीजी के जीवन का आधार सत्य था। इस सत्य का सूक्ष्म दर्शन उन्हें सात वर्ष की अवस्था में अपने पिताजी के साथ हरिश्चन्द्र नाटक देखते समय हुआ था। सत्य की खोज में जो बातें उनके सामने आईं उनको वह अपनी सत्य-प्राप्ति का साधन बनाते गये। अपने सत्य के प्रयोगों के सम्बन्ध में वह एक वैज्ञानिक जैसा मनोभाव रखते थे। आत्मकथा में उन्होंने लिखा है, "जैसे एक वैज्ञानिक अपने प्रयोग अत्यन्त नियमानुसार, विचार-सहित और सूक्ष्मतापूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामों को अंतिम नहीं मानता, अथवा यह नहीं कहता कि यही सच्चे परिणाम हैं, वैसे ही अपने परिणामों के विषय में मेरा मानना है।" गांधीजी का सत्य क्रियात्मक सत्य है और इसी सत्य के आधार पर उनका जीवन संचालित हुआ। आगे जाकर इस सत्य के प्राप्त करने के साधनों में अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि आते गये।

गांधीजी के जीवन के विकास का एक क्रम है। बाल्यकाल से लेकर दक्षिण अफ्रीका में वकालत करने जाने तक का जीवन एक साधारण जीवन है। इसके बाद क्या अचानक किसी चमत्कार से वह बड़े बन गए? चमत्कार नहीं, उनकी सत्यनिष्ठा मूर्त्त रूप ग्रहण करने लगी। चमत्कारों में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने बहुत बार कहा, "मैं एक साधारण आप जैसा

आदमी हूं। आप जो कुछ करें, अपनी बुद्धि के आधार पर करें, मेरे कहने से नहीं।" फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जो यह मानते थे कि अमुक बात गांधीजी ने कही है, इसलिए हमें करनी ही चाहिए। गांधीजी ने जब कहा, "यह काम तो होना ही चाहिए, यदि देश के नेता मेरा साथ न देंगे तो मैं अकेला ही इस काम को शुरू कर दूंगा, ऐसे अवसर पर देश के सारे नेता उनके साथ हो गये। ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं जब गांधीजी के कारण ही आंदोलन शुरू हुआ और रुका रहा या बन्द हो गया। मुझे लगता है कि गांधीजी की सत्यनिष्ठा इतनी तीव्र थी कि वह दूसरे आदमियों को भी उनके कहे अनुसार सोचने को बाध्य करती थी।

गांधीजी के जीवन की प्रत्येक क्रिया सत्य रूप हो गई। एक बार एक प्रसिद्ध साधक ने उनसे पूछा, "बापू, हम लोग जो चाहते हैं कि जीवन को सत्य बनायें, सो चेष्टा करने पर भी सफल नहीं होते और बिना कारण हमसे असत्य आचरण हो जाता है या असत्य बोल दिया जाता है। हम जब सोचते हैं तो अपने अन्दर सुख-भोग की इच्छा नहीं दीखती, साथ ही लालच भी नहीं दिखाई देता; पर हम काम करते हुए इसलिए डरते हैं कि कहीं हम से झूठ आचरण तो नहीं हो जायगा। आप इतना काम करते हैं, इतनी चीजों को, इतने कार्यों को संभालते हैं उसमें आपसे यह सत्य कैसे निभता है?"

इस सवाल के उत्तर में गांधीजी ने कहा था, "आज तो मेरी यह स्थिति है कि मैं जो करूं, वही मुझे सत्य जान पड़ता है, जो असत्य है वह मुझसे होगा ही नहीं; मैं जो कुछ करता हूं, जो कहता हूं, वह सब सत्य के लिए है, यानी परमात्मा के लिए है और सत्य ही परमात्मा है।'

सत्य एक पद्धति बन गया, शायद इसी पद्धति को वह देश के जीवन में, हरेक मनुष्य के जीवन में, उतारना चाहते थे। बछड़े को जहर की सूई दिलाते समय भी यही सत्य था और यही पद्धति—बन्दरों को मरवाते समय भी और शरीर पर से गुजरनेवाले सांप को न मारने में भी। कागज के छोटे-से टुकड़े को भी संभालकर रखने, पानी पीते या हाथ धोते समय एक बूंद पानी भी व्यर्थ न चला जाय, इसका ख्याल रखने में और जरूरत पड़ने पर पानी का टब भराकर उसमें पन्द्रह-बीस मिनट बैठकर सोने में—सब कामों

में सत्य और उसका प्रयोग था। कुष्ठ-पीड़ित परचुरे शास्त्री को मालिश करना और वायसराय से बात करना उनके लिए समान सत्य था।

दक्षिण अफ्रीका में घोड़ागाड़ी के एक कोचवान से मार खाते हुए उन्हें सत्याग्रह का दर्शन सहज-सत्य के रूप में हुआ था—किसीको कष्ट दिये बिना, किसीका बुरा चाहे बिना अन्याय का प्रतिकार कैसे किया जा सकता है, अपने अधिकार की रक्षा कैसे की जा सकती है और मानव के अन्दर भलाई को कैसे जागृत किया जा सकता है, यह गांधीजी ने देखा। जैसे किसी शुष्क बट बीज में विशाल वटवृक्ष छिपा रहता है उसी तरह एक छोटी-सी घटना में महान सत्याग्रह छिपा हुआ उन्हें दिखाई दिया। उनके जीवन की हर छोटी-से-छोटी घटना इसीलिए उनके जीवन की किसी महान घटना से कम नहीं थी। उन्होंने अपने जीवन के कार्यों में छोटे-बड़े का विचार नहीं किया। वह कहा करते थे कि प्रभु के काम में छोटा-बड़ा मानने वाला मैं कौन ? जिस समय जो काम वह मुझसे लेना चाहते हैं, वही मेरे लिए बड़ा है। हां, हम लोग बराबर यही सोचा करते थे कि गांधीजी ने इस बार जो काम किया, वह महान काम था, अथवा यह काम उनके जीवन का सबसे बड़ा काम था। पर कुछ ही दिनों के बाद वह फिर इतना बड़ा काम कर डालते थे कि पिछले कुल काम उस काम के सामने छोटे दिखायी देने लगते। दरअसल उनके जीवन में अपने कार्यों में कोई छोटा-बड़ा काम था ही नहीं। यही वजह है कि वह हमारे जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर सके। मानव-जीवन के जितने क्षेत्र हो सकते हैं, सबमें उन्होंने काम किया। हमारे देश की जितनी समस्याएं थी, सबको सुलझाने में उन्होंने दिशा-दर्शन किया।

दक्षिण अफ्रीका के 'इण्डियन ओपिनियन' में उन्होंने पहले-पहल लिखना शुरू किया और 'हिन्द स्वराज्य' के रूप में उनकी पहली रचना हमारे सामने आई। 'हिन्द स्वराज्य' में जो विचार उन्होंने व्यक्त किये, वे ही उनकी विचारधारा की भित्ति थे। रामराज्य, स्वराज्य की परिकल्पना 'हिन्द स्वराज्य' में मिलती है।

देश में जो समस्याएं थीं उनको वह पूरी तरह समझ गये थे और उन्हें सुलझाने के जितने भी प्रयत्न हो सकते थे, उन्होंने किये। रचनात्मक कार्य

उनके सिद्धांतों का आधार था। उन्होंने एक बार कहा था, "हमें कहा जाता है कि हम विनाश करते हैं; हमें सृजन करने का, रचना करने का, मौका ही कहां दिया जाता है, हम तो रचना ही करना चाहते हैं।" वह तो रचनात्मक कार्यों द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त करने की बात कहते थे। खादी या चरखा प्रतीक था—असली स्वराज्य का रचनात्मक शक्ति में छिपे होने का प्रतीक।

३ : कस्तूरबा

पूज्य बापूजी दक्षिण अफ्रीका में थे और वहां सत्याग्रह में सफलता प्राप्त करने के समय भारत में वह प्रसिद्ध हो गये थे। सन् १९१५ में वह भारत आये तब कलकत्ते के हावड़ा स्टेशन पर हजारों आदमियों ने उनका स्वागत किया। उस समय उनके साथ कस्तूरबा थीं। तब उनको बहुत कम लोग जानते थे। बापूजी की गाड़ी के घोड़े खोल दिये गए और नवयुवकों ने उनकी गाड़ी खींची। उस गाड़ी में कस्तूरबा भी बैठी थीं। उस समय बापूजी की वेशभूषा काठियावाड़ी पगड़ी, अंगरखा, और धोती तथा दुपट्टा था। कस्तूरबा एक रंगीन साड़ी पहने थीं। हम लोगों ने पूछा कि ये कौन हैं तो बताया गया कि ये गांधीजी की पत्नी हैं। कस्तूरबा का यह मेरा प्रथम दर्शन था। इसके बाद बापूजी के दर्शन करने तथा नजदीक से देखने के मौके आते रहे, पर बा का दर्शन करने और मिलने का मौका बहुत देरी से आया।

बा मूक तपस्विनी थीं और बापूजी के प्राणों में अपने प्राण डालकर अपने को धन्य मानती थीं। वह कभी किसी काम में सामने आने की बात सोचती ही नहीं थीं, न उन्हें अखबारों में नाम तथा फोटू का पता था। जहांतक मैं जानता हूं, उनका मानस, विचार, चेष्टा और सब कुछ एक ही था कि बापूजी को सन्तुष्ट कर सकूं। बा की बापूजी की सेवा करने की

इच्छा वहुत रहती थी, पर वापूजी के पास मीरावहन, प्रभावती वहन आदि कई वहनें थीं, जिनमें वापू की सेवा करने की प्रतिस्पर्धा रहती थी। इसलिए वा वीच में न पड़तीं कि इन वहनों को अवसर मिले और उनके मन को मेरी वजह से कोई ठेस न लगे। लेकिन उनका मन चाहता था कि मौका मिले तो मैं भी कुछ करूं। एक वार मैंने देखा कि वापूजी के झूठे वर्तन कस्तूरवा धोने के लिए ले गईं। पानी दूर था। वहां जाकर वर्तन धोये और जव लौटीं तव थकावट थी और साथ ही उनके चेहरे पर एक संतोष भी था।

वापूजी जितने कोमल थे उतने ही कठोर भी थे। वह अपने नजदीक के लोगों को जिस रूप में कसते थे और उनकी जो कठिन परीक्षा करते थे उसको वही जानते हैं, जो इस मार्ग से गुजरे हैं। वा को तो इस कठिन परीक्षा में से वहुत वार गुजरना पड़ा। वा संस्कार और स्वभाव से भारतीय नारी की प्रतिमूर्ति थीं, जो पतिपरायण, सद्गृहस्थी और कुटुम्ब की मर्यादाओं का पालन करनेवाली होती हैं। लेकिन वापूजी की कठिन तपश्चर्या के सामने, उनका साथ देने के लिए वा की एक ही साध रह गई थी कि वह वापूजी को सन्तुष्ट रख सकें। वापूजी के सारे नियम, व्रत और कार्यों में उन्होंने इसी भावना से पूरा-पूरा सहयोग दिया। वापूजी की इच्छा ही उनकी इच्छा रही। सन् १९४२ में पुलिस वापू को वम्वई के विड़ला हाउस में गिरफ्तार करने गई तो वापू, महादेवभाई और मीरावहन तीन के नाम वारण्ट थे, लेकिन पुलिस ने कहा कि वापू किसीको साथ लेना चाहें तो हम साथ ले जा सकते हैं। वापू ने कस्तूरवा से पूछा, "तुम चलोगी क्या?" कस्तूरवा ने कहा, "जो आप कहें। मैं तो जाना चाहती ही हूं।" वापू ने कहा, "तुम चल सकती हो, पर अच्छा यह होता कि शिवाजी पार्क की मीटिंग में जहां मैं वोलनेवाला था, वहां तुम जाओ और वोलो। इसका अर्थ यह हो सकता है कि पुलिस तुम्हें गिरफ्तार करके ले जाय और हो सकता है, मेरे साथ न रखकर अलग भी रखे।" कस्तूरवा ने कहा, "ठीक है मैं शिवाजी पार्क की मीटिंग में जाऊंगी।" और शाम को शिवाजी पार्क की मीटिंग में वा भाषण करेंगी, यह सूचना भूमिपत्रों (जमीन पर खड़िया से लिखना) द्वारा जगह-जगह, रास्ते-रास्ते में लिख दी गई

और बा शाम को विड़ला हाउस से शिवाजी पार्क में भाषण देने के लिए चलीं तो बाहर निकलते ही गिरफ्तार कर ली गईं। दीर्घकाल तक बापूजी की सेवा में रहीं और बापूजी की गोद में ही उन्होंने प्राण त्यागा, जो एक पतिपरायण स्त्री की चाह होती है।

बापू तो अस्वाद वृत्ति के व्रती थे। बा ने भी इसको अपनाने की कोशिश की। इसका एक उदाहरण याद आ रहा है। एक बार घूमते समय बात चली तो बापू ने कहा, "मैंने दाल खाना कैसे छोड़ा यह बा से पूछो।" बात कैसे चली थी, मुझे याद नहीं आ रहा है। बापू ने कहा, "बा अदरख बहुत खाती थी। मैंने उसे अदरक छोड़ने के लिए कहा। कई दिन कहता रहा। उन दिनों मैं दाल खाना पसन्द करता था। एक दिन बा ने तैश में आकर कह दिया, 'तुम दाल खाना छोड़ दो?' मैंने दाल खाना छोड़ दिया कहा, आज से दाल नहीं खाऊंगा। बा तो बेचारी हैरत में पड़ गई और भौंचक्की हो गई। यह मैंने क्या किया! हाथ जोड़े, मिन्नत की, माफी मांगी और कहा, 'मैंने तो योंही कह दिया था। तुम दाल खाओ, इससे मुझे खुशी होगी।' पर मैंने तो दाल छोड़ दी वह छोड़ ही दी।" इस प्रकार के बा और बापू के अनेक प्रसंग मिलते हैं।

एक बार की बात है जब गांधीजी जुहू (बम्बई) में ठहरे थे। कस्तूरबा बम्बई के अपने किसी रिश्तेदार के यहां मिलने गई थीं। वहां से लौटने पर दूसरे दिन उनको बुखार आ गया। इसपर गांधीजी ने उनसे कहा, "तुमने कल अपने रिश्तेदार के यहां खाने में असंयम किया होगा!" यह सुनकर कस्तूरबा एकदम सहम गईं। उन्होंने जानकीदेवी बजाज से कहा, "जानकी बेन, बापू अपने लोगों को कभी भी सराहनेवाले नहीं हैं। अपने सूली पर भी चढ़ जायं और बापू को मालूम रहे कि जीते हैं, तबतक वह यही कहेंगे कि तुम सूली पर तो चढ़ीं पर तुम्हारे में ये-ये कमियां हैं; जब सूली से लाश उतर जायगी तभी बापू को सन्तोष मिलेगा, तो अपने को तो वही करना है। बताओ जानकीबेन, ७० वर्ष की उम्र में और इतने दिनों बापू के साथ रहकर मैं क्या असंयम कर सकती थी?"

बापूजी के उपवासों के समय जब-जब चिन्ता का अवसर आता था तब देखा गया कि कस्तूरबा का अडिग विश्वास बना हुआ था कि बापू मेरे

पहले जा नहीं सकते। वह किसी भी स्थिति में विचलित न होतीं। आगाखां महल के प्रसिद्ध उपवास के समय जब डाक्टर निराश हो चले थे और बापू की अवस्था निहायत नाजुक हो गई थी तब भी कस्तूरबा का धीरज टूटा नहीं। मेरी लड़की पन्ना आगाखां महल में बापूजी के दर्शन करने गई तब उन्होंने बातों में कहा कि बापू सदा कष्ट देते रहे हैं, वह दे रहे हैं। जा कैसे सकते हैं ? इस परीक्षा में भी निश्चय ही पूरे उतरेंगे।

बा कभी दुःखी होती थीं तो हरिलालभाई के लिए। हरिलालभाई का बापूजी से चाहे जितना विरोध रहा हो, लेकिन बा के प्रति उनके मन में असीम श्रद्धा थी। इसको गांधी-परिवार के, जो भारत के कोने-कोने में बिखरा हुआ था और है, कुछ लोग जानते हैं और इसके कई उदाहरण आंखों के सामने से गुजरे हैं जब हरिलालभाई की श्रद्धा और बा का दुःख प्रकट होता था। एक बार की बात है कि बापूजी यात्रा कर रहे थे, तो स्टेशन की भीड़ 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगा रही थी। उसमें से एक आवाज आयी 'कस्तूरबा की जय' और लोगों का ध्यान उस तरफ़ गया। कस्तूरबा ने भी देखा कि हरिलालभाई आ रहे हैं। हरिलालभाई की वेश-भूषा और शरीर देखकर बा बहुत दुःखी हुईं। मैले और फटे कपड़े, दांत गिर गये, बाल सफेद हो गये, शरीर कृष हो गया। यह देखकर बा को महान् कष्ट हुआ। हरिलालभाई ने बा को मौसम्बी दी, प्रणाम किया और कहा कि यह मैं तुम्हारे लिए लाया हूं। इसे तुम ही खाना। तुम न खाओ तो मुझे लौटा दो। मैं बहुत मुश्किल से लाया हूं। बापू ने कहा, "मेरे लिए कुछ नहीं लाये ?" हरिलालभाई ने कहा, "हां, आपके लिए कुछ नहीं लाया। आप यह सुन लीजिए कि आप जो बड़े बने हैं, बा के ही पुण्य प्रताप से बने हैं।" बापूजी ने कहा, "अच्छा, हमारे साथ चल।" बा ने बहुत आग्रह से कहा, "हरि, मेरे साथ चल।" हरिलालभाई ने करुण स्वर में कहा, "बा अब मैं बहुत दूर चला गया। तेरे साथ कैसे चलूं !" इस प्रकार बा का वात्सल्य और हरिलालभाई की श्रद्धा अक्षुण्ण थी।

बा के वात्सल्य की अनुभूति और आतिथ्य बापूजी के पास जाने-आने-वाले लोगों में बहुतों को हुई है। उनमें आज जो जीवित हैं, वे बा को जिस रूप में याद करते है, वह बताया नहीं जा सकता। सौभाग्य से जमनालाल-

जी के यहां वर्धा में रहते समय, सेवाग्राम बनने के पहले और बाद में भी मुझे और मेरी पत्नी भगवान देवी को वहां जाने और रहने का बहुत मौका मिला। जमनालालजी के यहां रात-दिन अतिथियों का जमघट लगा रहता था और रसोई के काम में भगवान देवी काफी मदद करती थी। बा वहां आतीं तब वह कुछ-न-कुछ बनाकर बा को खिलाने का प्रयत्न करती और बा वृद्ध तो थीं ही, बहुत प्रेम से सराहना के साथ कुछ खा लेती थीं। इस प्रकार बा एक बहुत ही साधारण स्त्री की तरह अपने आप को रखती थीं, मानती थीं और व्यवहार करती थीं। मैंने कभी ऐसा नहीं देखा कि बा को यह भान भी हो कि मैं संसार के एक महापुरुष की पत्नी हूं। वे तो एक साधारण महिला की तरह रहती, आश्रमवासियों की तरह अपना जीवन बितातीं और सबके साथ बहुत ही सहृदयता का व्यवहार करतीं।

एक बार भाई महावीरप्रसाद जी पोद्दार के साथ भगवानदेवी और दो-तीन बच्चे सेवाग्राम तांगे में गये। बापू घूमने निकले थे। आश्रम के नजदीक उन सबको उन्होंने तांगे में आते हुए देखा। उन दिनों गो सेवा संघ की स्थापना हुई ही थी। बापू लौट कर आये तब पोद्दारजी से विनोद में बोले, "गौ की रक्षा करने का अर्थ घोड़े को मारना है क्या ?" पोद्दारजी ने कहा, "हम लोग दो ही आदमी थे और तो बच्चे हैं।" भगवानदेवी मोटी अधिक थी तो कहने लगे, "क्या यह भी एक ही आदमी है ?" सब हँसने लगे। बापू ने पोद्दारजी से कहा, "जाते समय पैदल जाओ और तांगे को खाली ले जाओ। आते समय घोड़े को कष्ट दिया, जाते समय आराम दो।" पोद्दारजी ने कहा, "ठीक हैं।" बा वहीं बैठी सुन रही थीं। तुरन्त बोलीं, "यह बेचारी मोटी स्त्री इतनी दूर पैदल कैसे जायेगी और ये बच्चे कैसे जायंगे ?" भगवानदेवी से बोलीं, "बापूजी तो ऐसे ही 'गैली' बातें करते हैं। तुम बात मत मानना, तांगे में बैठ कर जाना।" बापूजी ने सुधार किया, "मेरी बात भी मानो और बा की भी मानो। जितनी दूर पैदल चल सकती हो पैदल जाओ, न चल सको तो तांगे में बैठ जाना।"

४ : जमनालालजी

शायद सन् १९१७ की बात है। जमनालालजी कुछ मित्रों के साथ कलकत्ते के बोटानिकल बाग में घूमने गये थे। वहां साइकिल की दौड़ लगाने की बात चली, तो जमनालालजी सबसे पहले तैयार। लोगों ने कहा, "आप इतने मोटे आदमी हैं, साइकिल पर से गिर पड़ेंगे!" वह बोले, "मैं तो देहाती आदमी ठहरा। वहां तुम्हारे कलकत्ते-जैसी मोटरें थोड़े ही हैं! जल्दी का काम होता है, तो साइकिल ही काम आती है।" जो हो, जमनालालजी साइकिल पर चढ़े। देर तक घूमते रहे। कई लोग जो अपने को साइकिल चलाने में बड़े तेज मानते थे, उनसे भी जमनालालजी मीर निकले। परन्तु अन्त में सामने से एक मोटरगाड़ी आई और वह अपना तौल नहीं सम्हाल सके, गिर ही पड़े। लोग सहम गये। उन्होंने समझा, मोटर का धक्का लग गया। मगर जमनालालजी तुरन्त खड़े हो गये और बोले, "कुछ नहीं हुआ।" लेकिन दाहिने घुटने से बराबर खून बह रहा था। योंही पोंछ-पाछ कर घर आये।

दर्द सख्त था, लेकिन मुंह से कहते नहीं थे। डाक्टर को बुलाया गया। उसने कहा, चोट मामूली नहीं है। तब उस समय के सबसे बड़े सर्जन डाक्टर सुरेश सर्वाधिकारी को बुलाया गया। उन्होंने कहा, "मांस के भीतर कंकड़ घुस गये हैं। आपरेशन करना होगा। आपरेशन के लिए क्लोरोफार्म भी देना पड़ेगा।" जमनालालजी ने कहा, "इसकी क्या जरूरत है?" डाक्टर बोला, "बिना क्लोरोफार्म के आपरेशन नहीं हो सकेगा।" जमनालालजी ने कहा, "अच्छी बात है, आप क्लोरोफार्म का इन्तजाम रखिये और आपरेशन बगैर क्लोरोफार्म के शुरू कर दीजिए। अगर मैं न सह सका, तो आप बेशक क्लोरोफार्म दे दीजिएगा।" डाक्टर को यह बात पसन्द तो नहीं थी; लेकिन उसने सोचा कि यह अपने-आप ही क्लोरोफार्म मांगने लगेंगे। इतना दर्द सहना कोई खेल थोड़े ही है।

बिना क्लोरोफार्म के आपरेशन शुरू हुआ। आपरेशन के वक्त जो लोग मौजूद थे, वे कहते थे कि मांस के अन्दर से डाक्टर जब कंकर चिमटे से खींच-खींचकर बाहर निकालता था, उस दृश्य को देखना भी

मुश्किल था। लेकिन जमनालालजी ने चूं भी नहीं किया। डाक्टर दंग रह गया। वोला, "ऐसा सहनेवाला आज तक नहीं देखा। मुझे तो विश्वास नहीं था कि यह आपरेशन क्लोरोफार्म के विना भी हो सकता है।" ऐसी थी जमनालालजी की सहनशक्ति और धीरज।

इसी तरह का दूसरा प्रसंग उस समय का है, जव वह जयपुर में नजरवंद थे। उनके पैर में जोरों का दर्द हुआ। विजली का इलाज किया गया। डाक्टर ने कहा, "मैं विजली का प्रवाह तेज करता जाऊंगा। यदि आप कुछ अधिक वर्दाश्त कर सकें तो असर अच्छा होगा।" डाक्टर प्रवाह वढ़ाता ही गया, मगर जमनालालजी कुछ नहीं वोले। पैर जलता रहा, यहां तक कि घाव हो गया। तव डाक्टर को पता चला कि इनका तो पैर ही जल गया। मगर जमनालालजी तो वर्दाश्त ही करते रहे।

ऊपर जिस आपरेशन की चर्चा आई है, जमनालालजी से पहले-पहल मैं उसी समय मिला। उस समय उनकी उम्र कुल सत्ताईस साल की थी। पर उसके पहले ही वह कई सार्वजनिक कार्य शुरू कर चुके थे और देश के अच्छे-से-अच्छे लोगों के सम्पर्क में आ चुके थे। जहां कहीं जाते या किसी से मिलते तो वरावर यह कोशिश करते रहते कि किसी कार्यकर्त्ता से परिचय हो जाय। कोई नया कार्यकर्त्ता तैयार हो, इसीकी तलाश में रहते। आपरेशन के वक्त उन्हें कई दिन कलकत्ते में रहना पड़ा। शाम को उनके पास कलकत्ते के मारवाड़ी युवकों का जमघट लगता और अन्य लोग भी आते, जिनमें श्री अम्विकाप्रसादजी वाजपेयी, स्व० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी आदि प्रमुख थे। समाज-सुधार और राजनैतिक विषयों पर वातें होती रहतीं। वीच-वीच में चतुर्वेदीजी के हास्य-विनोद के फव्वारे सवकी तवियत को तर कर देते और कलकत्ते के वागवाजार वाले नामी रसगुल्लों का स्वाद भी मिल जाता।

थोड़े ही दिनों के वाद उन्नीस सौ सत्रह के वड़े दिनों की छुट्टियों में श्रीमती एनी वेसेण्ट की अध्यक्षता में कांग्रेस का अठाइसवां अधिवेशन हुआ। उसमें उस समय के 'कर्मवीर' गांधी भी आनेवाले थे। लोकमान्य के नाम की धूम थी। गांधीजी तो जमनालालजी के ही अतिथि थे।

उन दिनों वह काठियावाड़ी वेश-भूषा में रहते थे। वही वलदार पगड़ी और लम्वा अंगरखा; लेकिन जूते नदारद। हम लोगों को जमनालालजी ने गांधीजी से मिलाया। वैसे तो वहां का सारा काम हमीं लोगों के जिम्मे था। उस समय जिन्होंने जमनालालजी को गांधीजी का आतिथ्य करते देखा है, उन्हें याद है कि उस समय भी गांधीजी के साथ उनका सम्वन्ध कितना गहरा था और गांधीजी के प्रति उनकी श्रद्धा कितनी गहरी थी। वाद में तो गांधीजी 'महात्मा' हो गये और सारे देश के 'वापू' वन गये। जमनालालजी की विशेषता यह थी कि उन्होंने गांधीजी को पहले ही पहचान लिया था और अपने को उन्हें सौंप दिया।

सन् १९२० में लाला लाजपतरायजी के सभापतित्व में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें गांधीजी ने असहयोग का प्रस्ताव पेश किया। कांग्रेस के सभी पुराने महारथियों ने उस प्रस्ताव का जम कर विरोध किया, तो भी जमनालालजी गांधीजी के साथ थे। उनके कारण वड़ावाजार के सभी लोग गांधीजी के पक्ष में रहे। उन दिनों आजकल की तरह प्रतिनिधियों का चुनाव तो होता नहीं था। इसलिए हम लोग वहुत वड़ी संख्या में प्रतिनिधि वन गये थे। हम लोग तो यही मानते रहे कि हमारे वोटों की वदौलत ही महात्माजी की जीत हुई। वंगाल के मुख्य नेता देशवन्धु चित्तरंजन दास, विपिनचन्द्र पाल, व्योमकेश चक्रवर्ती तथा महामना मालवीयजी महाराज और अन्य सभी धुरंधर नेताओं ने गांधीजी के प्रस्ताव का घोर विरोध किया। प्रस्ताव का एक अंश यह भी था कि सरकारी उपाधियां लौटा दी जायं। जमनालालजी ने तुरन्त अपनी 'रायवहादुर' की उपाधि छोड़ दी।

१९२० की नागपुर-कांग्रेस के वाद आन्दोलन का जोर बढ़ा। कई कार्यकर्त्ता, कालेजों के प्रोफेसर, वकील-वैंरिस्टर और बड़े-वड़े लोग आन्दोलन में योग देने लगे। देशवन्धु दास और पण्डित मोतीलालजी अपनी वड़ी-वड़ी वकालतें छोड़कर मैदान में कूद पड़े। पूज्य राजेन्द्रवावू भी अपनी वकालत छोड़कर देश-कार्य में जुट गये। इसका परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों और हजारों की तादाद में लोग अच्छी कमाई का धन्धा छोड़कर आन्दोलन में शामिल हुए। जमनालालजी ने सोचा कि इतने

लोग जो देश के काम के लिए आगे आये हैं, उनके पास कमाई का कोई जरिया नहीं। न जाने इनके परिवार के लोगों पर क्या-क्या बीत रही होगी। इनके सिवा और भी कितने ही ऐसे लोग होंगे, जो अपनी कमाई छोड़कर आन्दोलन में शरीक होना चाहते होंगे। लेकिन उनके सामने उनके स्त्री-बच्चों का सवाल होगा। उन्होंने झट एक निधि खोली। दो लाख रुपये अपने पास से दिये और जो लोग अपना धन्धा छोड़कर आन्दोलन में पड़े थे और जिनके परिवार के लोगों के लिए दूसरा कोई इन्तजाम नहीं था, उनकी सहायता की। उनको बराबर यह चिन्ता रहती थी कि देश और समाज के सेवकों की तकलीफें किस तरह दूर हो सकती हैं और उनके कार्य के लिए सुविधाएं किस तरह प्रस्तुत की जा सकती हैं। इसी विचार में से बाद में गांधी-सेवा-संघ की स्थापना हुई।

जमनालालजी के जिस विशेष गुण का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह है कार्यकर्त्ताओं के प्रति उनकी आस्था। १९३१ के गांधी-इर्विन-समझौते के बाद की बात है। देश में चारों तरफ एक तरह से उल्लास, उत्साह और जोश की लहर-सी उठ रही थी। कांग्रेस की जीत हुई। हमारा आन्दोलन सफल हो गया। इसी खुशी में लोग मगन थे। लेकिन जमनालालजी को यह फिकर थी कि आन्दोलन की वजह से कितने कार्यकर्त्ता बीमार हो गये हैं? सरकार की दमन-नीति के प्रहार से कितनी संस्थाएं नष्ट हो गई हैं? मार-पीट और गोलाबारी की बदौलत कितने आदमी अपंग और अपाहिज हो गये हैं? उन सबसे मिलना चाहिए। उन्हें दिलासा देकर उनकी मदद करनी चाहिए। गुजरात, बम्बई और वर्धा के आसपास के कार्यकर्त्ताओं से मिलने के बाद उन्होंने बंगाल आने का विचार किया। मुझे पत्र लिखा, 'फलां तारीख को पहुंच रहा हूं। डाक्टर सुरेश बनर्जी और डा० प्रफुल्लचन्द्र घोष से, जो अभय आश्रम के सभापति और मन्त्री हैं, मिलना है। सुरेशबाबू को जेल में टी० बी० हो गई है, उनसे मिलने के लिए कुमिल्ला चलना है। दूसरे कार्यकर्त्ताओं से भी मिलना है। तुम्हें साथ चलना होगा।'

वह कलकत्ते आये। यहां के लोगों से मिले। जिन मारवाड़ी युवकों

ने आन्दोलन में भाग लिया था, उनसे वह बहुत प्रेम से मिले। उन्हें इस बात की विशेष चाह थी कि मारवाड़ी-समाज के लोग देश-सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लें। वे कोरे व्यापारी ही न बने रहें। जमनालालजी युवकों को बराबर यह प्रेरणा देते रहे।

हम डा० सुरेश बनर्जी से मिलने कुमिल्ला गये। सुरेशबाबू को तो प्लास्टर आव पैरिस में सुला रखा गया था। उठना-बैठना तो दूर, वह करवट भी नहीं बदल सकते थे। जमनालालजी सीधे उनके पास गये और उसी हालत में उनके गले लिपट गये। सुरेशबाबू बोले, "जमनालालजी, मैं क्या कहूं ! आप इतनी दूर से खासकर मुझसे मिलने आये और जिस प्रेम से मुझे गले लगाया, उससे तो मेरी बीमारी दूर हुई-सी मालूम होती है। मैं अपने में एक नया बल और स्फूर्ति अनुभव करता हूं।"

जमनालालजी कार्यकर्त्ताओं की तकलीफ समझ सकते थे। उनके त्याग और देश-प्रेम की कद्र करते थे। वह कार्यकर्त्ताओं के प्रशंसक ही नहीं, बल्कि उनके भक्त थे। वह जब उनकी सहायता करते थे तो यह नहीं मानते थे कि मैंने कोई अहसान किया है, बल्कि यह मानते थे कि ऐसे पुण्यवान व्यक्तियों की सेवा का सुअवसर मुझे मिला, यह मेरा अहोभाग्य है। उनकी निगाह में कार्यकर्त्ताओं का स्थान बहुत ऊंचा था। वह उनको अपने घर के लोगों से ज्यादा प्रेम करते थे। अपने साथ काम करनेवाले या अपने सम्पर्क में आनेवाले देशसेवकों के दिल में अपने वर्ताव से, अपनी भावना से और अपनी कामों से उन्होंने यह विश्वास पैदा कर दिया था कि यदि किसी कार्यकर्त्ता को कोई शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक या सामाजिक तकलीफ हो, तो जमनालालजी उसकी हर तरह से मदद करेंगे। और यही कारण है कि जमनालालजी के चले जाने से हजारों लोगों ने यह अनुभव किया कि उनका एक जबरदस्त सहारा जाता रहा।

कुमिल्ला में ही मैंने जमनालालजी से पूछा कि आप डाक्टर सुरेश बनर्जी से मिलने इतनी दूर से क्यों आये? यद्यपि मैं सुरेशबाबू और प्रफुल्लबाबू का परिचय १९३० की जेल में ही प्राप्त कर चुका था, तो

भी इनकी संस्थाओं से मेरा सम्वन्ध नहीं था। जमनालालजी ने वहां के कार्यकर्त्ताओं तथा अभय-आश्रम के आजीवन सदस्यों के वारे में जो कुछ वहां वताया गया, वह अद्भुत था। उनका चरित्र इतना उज्ज्वल था, इतना त्यागमय था कि आज भी वह दृश्य मेरी आंखों के सामने से नहीं हटता।

थोड़े में उनके कहने का आशय यह था कि यह संस्था १९२१ के आन्दोलन के वाद स्थापित हुई। डा० सुरेश वनर्जी और डा० प्रफुल्ल घोष ने उसकी स्थापना की। इसके उनतीस आजीवन सदस्य हैं, जिनमें से अट्ठाईस अविवाहित है। देश के आजाद होने के पहले विवाह न करने का उनका प्रण है। जो कुंवारे हैं, वे केवल अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए पन्द्रह रुपये मासिक लेते हैं। इसमें भोजन, वस्त्र, डाक तथा अन्य खर्च जो उनका अपना खर्च कहा जा सकता है, शामिल है। एक सदस्य, जो विवाहित हैं, वह पचास रुपया लेते हैं। वह एक कालेज में एक अच्छे प्रोफेसर थे। वेतन भी अच्छा पाते थे। सुरेशवावू और प्रफुल्लवावू तो हजार-हजार, आठ-आठ सौ की सरकारी नौकरियां छोड़कर संस्था में आये हैं। अन्य सभी सदस्य डाक्टर, वकील या वैज्ञानिक हैं और विश्व-विद्यालयों की उच्च परीक्षाएं पास हैं। डा० नृपेन वोस, जो एक अच्छे डाक्टर हैं, आश्रम के दवाखाने और अस्पताल में वहां के एक सौ दस कार्यकर्त्ताओं की सेवा करते हैं। उसके वाद डाक्टरी का पेशा करते हैं, जिसमें करीव वारह सौ रुपया मासिक की आमदनी होती है। वह सब आश्रम को ही जाती है। वह आश्रम के सदस्यों का नियत वेतन केवल पन्द्रह रुपया ही लेते हैं।

जमनालालजी वोले, "वतलाओ, अगर ऐसे लोगों से मिलने या उनके दर्शन करने न आऊं तो किससे मिलने आऊं? यही लोग तो आज गांधीजी की भावना और विचारों के अनुसार उनके कामों को चला रहे हैं। तुम्हारे वंगाल में आज जो खादी का काम हो रहा है, इस आन्दोलन में जितना कुछ काम हो सका है, वह इन सवकी या ऐसे ही दूसरे लोगों की मेहनत का फल है।"

इसी तरह वह दूसरी जगह के कार्यकर्त्ताओं से, जिन्हें उस आन्दोलन

में तकलीफ हुई थी, उन सवसे मिलने गये। श्रीहट्ट के श्री धीरेन्द्रनाथ दास तथा ढाका की श्री ग्राशालता सेन के वारे में सुना था कि उन्हें वड़ी तकलीफ सहनी पड़ी। ग्राशालता का ग्राश्रम जला दिया गया था। धीरेन्द्रवावू पर पुलिस की लाठियों की वहुत मार पड़ी थी। उन्हें तुरन्त तार देकर बुलाया। उनसे वड़े प्रेम ग्रौर ग्रादर से मिले ग्रौर उनके ग्राश्रम के लिए रुपयों का इन्तजाम करने का भार मुझपर सौंपा।

ऐसे-ऐसे न मालूम कितने उदाहरण ग्राज मेरी ग्रांखों के सामने नाच रहे हैं। उनके परिवार की वातें, उनकी व्यक्तिगत वातें, उनका रहन-सहन, तौर-तरीका, कर्मनिष्ठा, त्याग, जानकीवहन के साथ उनका संवंध, वर्धा में ग्रानेवाले हजारों मेहमानों की ग्रावभगत, ग्रात्मीयता ग्रादि, उनके जीवन के सभी पहलुग्रों पर वहुत कुछ लिखा जा सकता है।

एक वार नागपुर जेल में वह वीमार हुए ग्रौर ग्रवधि से पहले छोड़ दिये गए, तो स्वभावत: उनसे मिलने की इच्छा हुई। पर मैं कभी उनसे विना पूछे या विना बुलाये उनके पास नहीं गया क्योंकि वह वरावर हर वार याद कर लिया करते थे। तो भी ग्राल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की वैठक के पहले मैं उनके दर्शन नहीं कर सका। जनवरी में जव मैं वर्धा पहुंचा, तो वह सामने ही मिले। मैंने उन्हें इतना दुवला-पतला पहले कभी नहीं देखा था। उनके शरीर की हालत देखकर मैं सहम गया। मैंने कहा, "ग्राप तो वहुत कमजोर हो गये हैं।" उन्होंने कहा, "कमजोर नहीं, दुवला हो गया हूं। कमजोर तो दूर, मैं तो पहले से भी ज्यादा शक्ति महसूस करता हूं।"

ग्राल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की वैठक के वाद पूरे वीस दिन में उनके पास रहा। गांधीजी की ग्राज्ञा से जमनालालजी ने गो-सेवा-संघ का काम ग्रपने ऊपर लिया। उसी समय 'गोपुरी' का नामकरण हुग्रा ग्रौर वहीं एक टीले पर एक सुन्दर घास-फूस की झोंपड़ी में वह रहने लगे। मेरा ग्रधिक समय उनके साथ ही वीतता था। मित्रवर महावीर प्रसादजी पोद्दार भी हम लोगों के साथ सोते थे। कई तरह की वातें होती रहतीं।

एक दिन कुछ जोर की वर्षा होने लगी। मैंने कहा कि झोंपड़ी में तो

बौछार आयगी। शायद पानी चूने भी लगेगा। उन्होंने मारवाड़ी बोली में कहा, "मैं तो जाट जन्मा था और जाट ही मरना चाहता हूं। मुझे वर्षा का क्या डर है! यहां तो तुम-जैसे नवाबों को तकलीफ हो सकती है।" (मुझे वह मजाक में 'नवाब' कहा करते थे।)

मुझे क्या पता था कि पांच-दस दिन में ही यह निधि यों लुट जायगी! इन बीस दिनों में कितनी बातें हुईं। हम लोग चार बजे से पहले उठ जाते थे। प्रार्थना के बाद आपस की चर्चा होती थी, जिसमें अपनी-अपनी गलतियां सोची जाती थीं। उन्होंने कई बातें बताईं, जिनका वर्णन इस समय नहीं किया जा सकता। मैंने पोद्दारजी से कहा, "पोद्दारजी! जमनालालजी में परिवर्तन मालूम पड़ता है। अब वह निरन्तर अन्तर्मुख होकर आत्म-निरीक्षण में रत रहते हैं।" महावीरप्रसादजी बोले, "सीताराम! क्या कहूं, इनके प्रति मेरी श्रद्धा तो वेग से बढ़ रही है।" हमें क्या मालूम था कि वह इतनी जल्दी इस तरह अचानक हम लोगों से विदा हो जायंगे! मैं और पोद्दारजी पांच फरवरी को ही तो वर्धा से गये थे। यदि उनके कुछ भी तकलीफ होती, हमें ज़रा-सा भी अन्देशा होता, तो हम क्यों इस तरह अलग रह जाते?

पर जमनालालजी का तो कहना था कि मैं किसीकी भी सेवा लिये बिना मरना चाहता हूं। मेरे एक घनिष्ठ मित्र की जब हृदय-गति रुकने से मृत्यु हो गई थी, उस वक्त जमनालालजी ने मुझे लिखा था, "ऐसी मृत्यु तो भाग्यशाली व्यक्तियों की होती है। वह ईश्वर की कृपा का लक्षण है। आदमी इस कमरे में मरे, तो बगल के कमरेवाले को बाद में पता चले, ऐसी मृत्यु होनी चाहिए।"

जमनालालजी की मुराद पूरी हुई। उनके जैसी मृत्यु तो सचमुच ईश्वर की कृपा का ही लक्षण है। वह तो अमर हो गये। हजारों हृदय में उनकी स्मृतियां सदा हरी-भरी रहेंगी।

जमनालालजी बीस वर्ष पहले से कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मेम्बर थे तथा उन्होंने देश की बड़ी-बड़ी संस्थाओं का—जैसे चर्खा-संघ, गांधी-सेवा-संघ आदि का—संगठन और संचालन किया। ये बातें जमना-लालजी की महत्ता की सूचक हो सकती हैं, पर उनकी सच्ची महत्ता का

पता तो उनके नजदीक जाने पर ही मिल सकता था और उनका प्रेमी हृदय, उनकी विशालता, उनकी कार्य-शक्ति तथा विचार और आचार की एकता का पता तो उनको नजदीक से देखने से ही मिल सकता था। एक दिन की वात है। वर्धा के गांधी-चौक में सभा थी। जमनालालजी सभापति थे। जानकीवहन ने भी व्याख्यान दिया और सभापतिजी को तो देना ही था। लौटते समय रास्ते में मैंने कहा, "आपसे तो जानकीवहन का व्याख्यान ज्यादा अच्छा हुआ।" वह वोले, "यह तो ठीक है, तुम्हारा और उनका तो अच्छा होगा ही। मुझे तो इस वात की चिन्ता थी कि मैं कोई ऐसी वात न कह जाऊं जिसको जीवन में उतार नहीं सकूं या कर नहीं पाऊं; और तुम लोग शायद यह सोचते होगे कि हमारा व्याख्यान सुननेवालों को अच्छा लगना चाहिए।" वह हर समय यह सोचते थे कि मेरा जीवन, वाहरी और भीतरी, एक हो। वह समाज-सुधार की वही वातें कहते, जो वह खुद अपने घर में करते। जानकीवहन के पर्दा छोड़ने के पहले उन्होंने पर्दे के विरुद्ध कुछ नहीं कहा। जानकीवहन तथा अपने परिवार के अन्य लोगों की राष्ट्रीय जीवन की तैयारी कराने के लिए वह पूज्य गांधीजी के पास सावरमती के सत्याग्रह-आश्रम में सपरिवार जाकर रहे और वड़ी लड़की कमला का विवाह आश्रम में ही किया। सन् १९२७ में उन्होंने अपना प्रसिद्ध लक्ष्मीनारायणजी का मन्दिर हरिजनों के लिए खोला। वह क्रान्तिकारी मनोवृत्ति के आदमी थे; पर वह उस क्रान्ति को अपने घर से, अपने जीवन से शुरू करते थे। सचमुच उन्होंने अपने जीवन में क्रान्ति-मूलक सुधार किये थे।

वह उग्र थे अपने प्रति और कोमल थे दूसरों के प्रति। वह अपनी छोटी-सी कमजोरी को खोजते थे और उसको हटाने का जोरदार प्रयत्न करते थे। पर दूसरों के गुणों को ही देखते थे। उनके गुणों की प्रशंसा करते थे। उन्होंने किसी के अवगुणों को देखा तो उनकी अवहेलना की। मैंने उनके मुंह से किसी की निन्दा नहीं सुनी। वह केवल वड़ी-वड़ी वातों में ही नहीं उलझते थे। वह तो हर चीज में आनन्द ले लेते थे। उनके पास कितने आदमी आते और उन सबके नाना प्रकार के सवाल रहते, जिनमें से कई-कई तो वहुत ही जटिल हुआ करते, जिनका सुल-

झाना तो दूर, सुनने से घबराहट होती; पर वह अपने सहज धीरज से उन्हें सुनते और उन आनेवाले सज्जनों की सहायता करते। यह सहायता केवल आर्थिक नहीं, बहुत तरह की होती थी। उन्होंने न मालूम कितने परिवारों को डूबने से बचाया है; कितने कार्यकर्त्ताओं की कितनी समस्याएं हल की हैं। आर्थिक समस्या तो रुपये देकर हल की जा सकती है, देनेवाला उदार और भला कहला सकता है, पर कहीं स्त्री-पुरुष का झगड़ा है, कहीं बाप-बेटे का, कहीं सैद्धान्तिक कारणों से परस्पर झगड़ा है, तो कहीं बाप-बेटी में विवाह की समस्या या अन्य चीज को लेकर ठीक नहीं हो रहा है। साबरमती-आश्रम टूटने के पहले महात्माजी कांग्रेस के समय से पन्द्रह-बीस दिन पहले वर्धा-सत्याग्रह आश्रम में आ जाया करते थे और वहीं से कांग्रेस में जाते। उन दिनों वहां अन्य कार्यकर्त्ता भी आ जाते। गांधी-सेवा-संघ, चर्खा-संघ आदि की मीटिंगें भी हो जातीं। इतने बड़े सत्संग के लालच में मैं भी वर्धा चला जाता या जमनालालजी बुला लेते थे। सन् १९२९ की लाहौर कांग्रेस के बीस दिन पहले जब मैं वर्धा गया, उस समय की एक घटना है। रात में ग्यारह बजे करीब पन्द्रह-सोलह वर्ष की एक लड़की उनके पास आई। पूज्य बापूजी ने उसे भेजा था। सुबह की गाड़ी से लड़की के माता-पिता भी आये। बात यह थी कि माता-पिता लड़की का विवाह करना चाहते थे। लड़की विवाह नहीं करना चाहती थी। वह महात्माजी का 'नवजीवन' तथा अन्य पुस्तकें पढ़ा करती और सेवा करना या पढ़ना चाहती थी। माता-पिता जबर्दस्ती विवाह की बातें करने लगे, तो लड़की गांधीजी के पास भाग आयी। जवान लड़की, रात में गांधीजी उसे कहां रखते और फिर यह समस्या तो आखिर जमनालालजी को ही हल करनी थी। इसलिए महात्माजी ने रात में ही उसे जमनालालजी के पास भेज दिया। लड़की के माता-पिता सख्त नाराज थे। वे गुस्से में भरे पड़े थे। लड़की कहती थी, "मैं आपके घर नहीं जाऊंगी, मैं गांधीजी के पास आश्रम में रहूंगी और अपना सारा जीवन वहीं बिताऊंगी।" पर गांधीजी इस तरह माता-पिता को नाराज करके लड़की को कैसे रखें! मामला बहुत जटिल था, पर जमनालालजी ने इस मामले को

ऐसी चतुराई से सुलझाया कि लड़की के माता-पिता बाग-बाग हो गये और स्वयं जाकर लड़की को सावरमती-आश्रम में भर्ती कर आये। लड़की वहां कई वर्षों रही। १६३० के आन्दोलन में उसने खूब काम किया। जेल गई, आश्रम के नियमों का अच्छी तरह से पालन किया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। जमनालालजी ने अपने स्नेह-भरे हृदय से कई लोगों को मोह लिया और उनकी बुराई को भलाई में बदल दिया। जिनका पतन होनेवाला था, उनका उत्थान हो गया, वे सच्चे देश-सेवक बन गये। ऐसे कितने ही काम जमनालालजी से होते रहते थे।

गांधीजी के विचारों को जमनालालजी ने बड़ी श्रद्धा से अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। वह बराबर अन्तर्मुख होकर सोचा करते थे। कुछ समय पहले की बात है। वर्धा में चक्षु-सुधार यज्ञ था। जमनालालजी इसे अपने सीधे-सादे शब्दों में 'आंखों का मेला' कहते थे, जिससे वे देहाती लोग, जिनकी आंखें ठीक करनी थीं और जिनकी चिन्ता उनको थी, इस यज्ञ का मतलब समझ सकें। इस समय एक घटना हुई। मैंने, भाई महावीरप्रसादजी पोद्दार और श्रीरामकुमारजी भुवालका ने इस विषय में जमनालालजी से कुछ बातें कहीं। उस समय तो वह कुछ नहीं बोले। गोपुरी की झोपड़ी में हम लोगों ने सुबह चार बजे प्रार्थना की। इसके बाद बराबर कुछ आपसी चर्चा होती, तो जमनालालजी पोद्दारजी से और मुझसे कहा करते कि आप लोगों की जो विचार-धारा है, वह ठीक नहीं है। सार्वजनिक सेवक को यदि सेवा करनी है और उसे अपना सेवा-क्षेत्र बढ़ाना है, तो उसको शक्तिशाली नये-नये सेवकों को लाना होगा और उन सेवकों की खोज करनी होगी, जो किसी भी अच्छे इल्म की ताकत रखते हैं। उन ताकत वाले लोगों में चाहे कितने भी अवगुण हों, लेकिन सेवक को तो उन्हें प्यार और आदर से अपने सेवा-क्षेत्र की ओर आकर्षित करना होगा। उनके अवगुणों की वजह से हमें उनसे नाराज नहीं होना चाहिए। हमारे दिल में उनकी भलाई करने की भावना हो और उनके द्वारा देश-समाज की जो भी सेवा बन सके, वह लेनी हो, तो उनको आदर से और प्रेम से ही अपनी ओर खींच सकेंगे। निन्दा करके तो हम उन्हें खो भले ही दें। उस बात को

खुलासा लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि वह व्यक्तिगत बात थी, पर सचमुच हमपर उनकी बात का बहुत असर हुआ था और हमने उसे अच्छी तरह से सोचा तो मालूम हुआ कि दरअसल हमारी भूल थी। वह हर चीज में गहरे उतरते थे और यही कारण है कि वह इतनी सेवा कर सके और हजारों के हृदय का प्यार पा सके।

५ : महादेवभाई

पूज्य गांधीजी के हिन्दुस्तान में आने के बाद शायद सबसे पुराने और सबसे ज्यादा उनके साथ रहनेवाले श्री महादेवभाई थे। इस विषय में एक मनोरंजक घटना मुझे याद आ रही है। सन् १९३७ के दिसम्बर की बात है। गांधीजी की तबीयत खराब थी—यानी ब्लड-प्रेशर की शिकायत दूर नहीं हो रही थी। सेवाग्राम की सर्दी उन्हें बर्दाश्त नहीं हो रही थी, पर वह सेवाग्राम छोड़ना नहीं चाहते थे। डा० जीवराज मेहता ने उन्हें किसी तरह बम्बई आने के लिए राजी किया, और वह जुहू पर श्री रामेश्वरजी बिड़ला के मकान में आकर रहने लगे। बगल में श्री जमनालालजी की झोंपड़ी थी, जिसमें हम लोग रहते थे। श्री पेरिन बेन कैप्टन (दादाभाई नौरोजी की पोती) ने एक दिन गांधीजी से कहा, "बापूजी, आपको एक मजा दिखाऊं, यदि आप आज्ञा दें।" गांधीजी ने कहा, "हां-हां, जरूर दिखाओ।" वह बोलीं, "भोलानाथ नाम का एक बैल आया है, वह आपसे मिलना चाहता है।" बापूजी ने कहा, "जरूर मिलाओ।"

गांधीजी जहां रहते थे, वहीं वर्किंग कमेटी की मीटिंग उनके साथ-साथ चलती थी। इसलिए उन दिनों भी वर्किंग कमेटी की मीटिंग चल रही थी। पेरिनबेन ने पूछा, "भोलानाथ को किस समय लाऊं?" बापूजी बोले, "वर्किंग कमेटी की मीटिंग खत्म होने के बाद चार बजे।" पेरिनबेन

ने कहा कि तब तो सबसे मुलाकात हो जायगी। भोलानाथ आयगा, इसकी खबर तुरंत हमारी झोंपड़ी में भी आ गई। गांधीजी से उसके मिलने का समय चार बजे का था, पर उसकी सवारी तो दो बजे ही पहुंच गई। जब हम लोगों को मालूम हुआ कि भोलानाथ आ रहा है, तो मैं जानकीवहन के साथ उसे देखने गया। एक सुन्दर-सा बैल था, जो कद का थोड़ा नाटा, रंग सफेद, छोटे-छोटे सींग, चमकीली आंखें, कौड़ियों का गलपटिया और छोटी घण्टियों का हार पहने बड़े ठाट से मोटर-लारी में आ रहा था। साथ में था उसका मालिक तथा एक और आदमी। हम लोग कोई दस-पन्द्रह आदमी जुट गये, जिनमें एक महादेव-भाई भी थे। सबसे ज्यादा विनोद तो महादेवभाई ने ही किया भोला-नाथ से, क्योंकि वह स्वभाव से विनोदी थे। पहले-पहल भोलानाथ की हम लोगों से ही मुलाकात हुई। हमारी उसकी क्या बातें हुईं, उन्हें लिख कर पाठकों का समय लेना उचित नहीं होगा।

चार बजे गांधीजी के साथ वर्किंग कमेटी के सभी उपस्थित सदस्य भोलानाथ का विनोद देखने के लिए बाहर आये। सबसे पहले श्रीशरत्बाबू ने भोलानाथ से प्रश्न किया कि भोलानाथ, कांग्रेस का सभा-पति कौन है? भोलानाथ ने अपना सींग जवाहरलालजी के लगाया। सभी लोग जोर से हँसने लगे। ऐसे ही कई प्रश्न भोलानाथ से कभी किसीने तो कभी किसीने किये, जिनका वह ठीक-ठीक उत्तर देता रहा। गांधीजी ने भोलानाथ से पूछा कि बताओ भोलानाथ, मेरे सबसे पुराने साथी यहां कौन हैं? भोलानाथ मौलानासाहब (अबुल कलाम आजाद) के पास गया। बापूजी ने कहा कि भोलानाथ, अबकी बार तो तुमने भूल की। मेरा सबसे पुराना साथी तो महादेव है।

महादेवभाई तो उनके ऐसे ही साथी थे। बापूजी को बहुत लोग मिले, जिनमें महादेवभाई का अपना खास स्थान था। बापूजी को महादेवभाई पर अपने किसी भी काम का भार सौंपने में झिझक नहीं होती थी। बापूजी का काम करना सहज नहीं था। उनके काम करनेवाले को उनकी भावनाओं, उनके विचारों और उनके काम करने की पद्धति का पूरा-पूरा ज्ञान न हो, तो वह बापूजी को सन्तोष नहीं करा सकता

था। महादेवभाई इतने वर्षों के सहवास से इस काम में ऐसे पटु हो गये थे कि उनके जैसे वही थे। फिर भी बहुत बार बापूजी की फटकार उन्हें भी सुनने पड़ती थी। गांधीजी लिखने में, बोलने में और प्रत्येक कामों में बहुत ही संयम से काम लेते थे। उनके मन्त्री को भी वैसा ही होना चाहिए था। वह केवल उनके लिखने-पढ़ने का काम ही नहीं करते थे। दरअसल गांधीजी के पास लिखने-पढ़ने का काम तो गौण काम था, असल काम तो उनके पास अपना और साथियों का विकास करना ही था। महादेवभाई उनके ऐसे सेक्रेटरी थे, हमाल (बोझा ढोनेवाले) से लेकर उनके बड़े-से-बड़े बौद्धिक काम खूबी के साथ सम्भाला करते थे। गांधीजी अपनी भाषा में कामा या फुलस्टाफ की भूल भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। पर वह अपने बड़े-बड़े मजमून भी महादेवभाई पर छोड़ देते थे। महादेवभाई की भाषा और शैली तो ऐसी हो गई थी कि कई बार लोग समझ ही नहीं पाते थे कि महादेवभाई का लिखा है या गांधीजी का। बापूजी के व्याख्यानों को महादेवभाई जिस तरह लिख लिया करते थे, उनको पढ़ने से ऐसा मालूम होता कि गांधीजी बोल रहे हैं।

८ अगस्त १९४२ को रात में पूज्य बापूजी कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में व्याख्यान दे रहे थे। बापूजी का यह व्याख्यान कितना महत्व-पूर्ण, कितना प्रभावशाली, कितना जिम्मेदारी से पूर्ण था, उसका ठीक-ठीक प्रकाशित होना भी उतना ही महत्व रखता था। इस काम को महादेवभाई से ज्यादा अच्छा तो कोई कर ही नहीं सकता था। महादेवभाई बैठे-बैठे नोट ले रहे थे। पर उनको वहां सुभीता नहीं था। कारण, वह बापूजी के पीछे बैठे थे। इसलिए वह जल्दी से मंच से नीचे उतरकर मेरे पास मेज पर आ बैठे और बैठकर नोट लेने लगे। मैं ध्यान-पूर्वक गांधीजी का व्याख्यान सुन रहा था, पर अपने मन में सोच रहा था कि जब 'हरिजन' में महादेवभाई का लिखा नोट छपेगा, इसपर अच्छी तरह विचार करने का मौका मिलेगा। लेकिन संयोग दूसरा ही था। सुबह ही सब गिरफ्तार कर लिये गए।

१६ अगस्त को जब मैंने प्रेसीडेन्सी जेल में सुना कि महादेवभाई

अब इस नश्वर लोक को छोड़कर परलोक चले गये तो मुझे विश्वास नहीं हुआ।

महादेवभाई की चर्चा होते ही आज भी अनेक स्मृतियां जाग्रत हो उठती हैं। वर्षों से मैं महादेवभाई को अच्छी तरह जानता था। उनका लम्बा कद, ऊंचा ललाट, गौर वर्ण, प्रतिभाशाली मस्तिष्क और स्नेह-भरा स्वभाव कौन भूल सकता है ?

६ : किशोरलालभाई

पूज्य किशोरलालभाई के अवसान से एक ऐसी वेदना का अनुभव हो रहा है, जो चिरस्थायी-सी लगती है। आज किशोरलालभाई जितने आत्मीय, जितने सन्त, जितने चिन्तक, जितने बुद्धिमान और जितने श्रद्धेय लग रहे हैं, उतने अपने जीवन-काल में शायद कभी नहीं लगते थे। यह स्वाभाविक ही है कि जब मनुष्य नहीं रहता है तब उसका अभाव उसकी खूबियों को उघाड़ कर सामने रख देता है। पूज्य गांधीजी के कुटुम्ब के जो असंख्य सदस्य देश के कोने-कोने में बिखरे हुए, वे एक अजीब-सी दुख-भरी निराशा की स्थिति का अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों के लिए किशोरलालभाई एक सहारा थे, एक पथ-प्रदर्शक थे, एक मित्र थे और थे एक सच्चे सलाहकार।

किशोरलालभाई के साथ क्या बातचीत करते समय और क्या पत्र-व्यवहार करते समय, ऐसा लगता था कि किसी अपने ही घर के आदमी के साथ बातें हो रही हैं। अपने पत्रों में किशोरलालभाई साधारण संबंधों को भी जिस आत्मीयता के साथ याद करते थे, वह मानों उनकी एक विरल हार्दिकता थी। उनका मन और मस्तिष्क जैसे हर बात में अपनी एक विशिष्टता और निरालापन लिये था। उनके ठिगने कद और कृश शरीर पर एक बड़ा-सा सिर शरीर के अनुपात से कुछ

अजीब-सा लगता था, पर इस बड़े मस्तिष्क में जो संयत, सुलझे हुए, परिष्कृत और परिपक्व विचार रहते थे वे किशोरलालभाई की असाधारण मेधाशक्ति के परिचायक थे। यदि हम किशोरलालभाई के जीवन की साधना, तपस्या, सरलता आदि को एक बार अलग रखकर केवल उनकी निर्मल बुद्धि और स्वच्छ विचारों का ही पारायण करें तो भी उनका व्यक्तित्व विरल ही ठहरता है। उनकी जैसी निर्मल बुद्धि के आदमी खोजने पर भी शायद मुश्किल से ही मिलेंगे।

एक बार पूज्य बापूजी ने मालीकंदा गांधी सेवा संघ की बैठक में कहा था कि किशोरलालभाई को कुदरत ने जो कुशाग्र और निर्मल बुद्धि दी है वह कम लोगों को ही मिलती है। बापूजी जब कोई बड़ा कदम उठाने का विचार करते तो वैसा करने से पहले किशोरलालभाई की राय जरूर लिया करते थे और उनकी राय को बौद्धिक विचार की दृष्टि से सबसे ज्यादा महत्व की मानते थे। बापूजी की कई बातों से किशोरलालभाई का गहरा मतभेद रहा है और उन्होंने सदा केवल अपनी आत्मा की ईमानदारी का पक्ष ही बापूजी के सामने रखा है। किशोरलालभाई का यह स्वभाव हो गया था कि जबतक उनका मानस किसी विचार अथवा कार्यपद्धति को पूरी तरह अंगीकार नहीं करता था तबतक वह उसे स्वीकार नही करते थे। ऐसे अवसर उनके जीवन में अनेक बार आये थे।

किशोरलालभाई के बड़े भाई श्री नानाभाई, उनकी भाभी श्रीमती विजयालक्ष्मी तथा उनकी पुत्री तारावहन और किशोरलालभाई की पत्नी श्रीमती गोमतीबहन को लेकर जो मशरूवाला परिवार था, उसे गुजरात का एक विशिष्ट और सुसंस्कृत परिवार कहा जा सकता है। इस परिवार के सब-के-सब लोग त्यागमय, सेवाव्रती, विनम्र और प्रखर बुद्धि के रहे हैं। इस परिवार के सभी सदस्यों ने देश के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे दी। इसी परिवार के सदस्य के नाते किशोरलालभाई ने देश के लिए जो कुछ किया और दिया, उसपर सहज ही गर्व और गौरव का बोध होता है। जवानी के निकट पहुंचने के बाद ही किशोरलालभाई गांधीजी के साथ चले आये थे। कानून की परीक्षा

पास करने के वाद उन्होंने वकालत शुरू तो जरूर की, पर वहां उनका मन रमा नहीं और केवल पच्चीस वर्ष की अवस्था में ही सव कुछ त्यागकर वह वापूजी के पास चले आये और उन्हींकी सदारत में सारा जीवन देश और समाज की सेवा में लगा दिया। वापूजी की सन्त भावना का प्रतिनिधित्व विनोवाजी करते थे, सांस्कृतिक और कला भावना का प्रतिनिधित्व काकासाहव करते हैं, पर वापू के वौद्धिक विचारों और भावनाओं का प्रतिनिधित्व तो एकमात्र किशोरलालभाई ही करते थे। वापूजी की हत्या के वाद उनके द्वारा संस्थापित हरिजन पत्रों का जिस योग्यता, जिम्मेदारी और निर्भीकता के साथ उन्होंने सम्पादन किया और गांधीवादी विचारधारा की पूरी-पूरी रक्षा कीव ह किशोरलालभाई जैसे साधक और चिंतक का ही काम था।

अस्वस्थ और दुर्वल शरीर के रहते हुए भी किशोरलालभाई जीवन की अन्तिम घड़ी तक वरावर काम करते रहे। पूज्य जाजूजी वम्वई जा रहे थे, जिनके हाथ उन्होंने वम्वई के दो सज्जनों के नाम दो पत्र लिखवा कर दिये। पर दुर्भाग्यवश जव जाजूजी वर्धा स्टेशन पर पहुंचे तवतक किशोरलालभाई इस लोक से कूच कर गये। इसके कुछ ही घण्टे पहले उन्होंने वाहर से आये दो सज्जनों से मुलाकात भी की और उनकी वातें सुनकर अपनी राय दी तथा 'हरिजन' के लिए लेख भी लिखवाया जिसके अन्तिम शव्द ध्यान देने लायक थे—"भारत के जागे हुए देहात अव किसी को अपना खून ज्यादा दिन तक नहीं पीने देंगे।" ये किशोरलालभाई के अन्तिम शव्द थे, जिनसे प्रकट है कि उनके जागरूक और चिन्ताशील मानस में अन्तिम क्षण तक किस तरह की प्रतिक्रिया हो रही थी। इस प्रकार लगातार वीमार रहने के वावजूद पूर्णरूप से सेवा, त्याग और संयम का जीवन जीते हुए उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। आज वह अचानक हमारे वीच से चले गये हैं। उसका अभाव ऐसा है, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। अपने कार्यों और साहित्य के रूप में किशोर-लालभाई उन लोगों के लिए, जो सत्य, न्याय और कर्त्तव्यनिष्ठा का जीवन जीना चाहते हैं, एक वहुत वड़ी विरासत छोड़ गये हैं।

किशोरलालभाई गुजराती के वड़े ही उच्चकोटि के लेखक थे।

गांधीजी के विचारों के तो वह एक अद्वितीय और सही भाष्यकार माने जाते हैं। गांधीजी के जीवित रहते भी न सिर्फ किशोरलालभाई उनको समझाने में सबसे आगे थे, बल्कि कई बार तो गांधीजी की उपस्थिति में भी उनके विचारों को भलीभांति समझाने का काम किशोरलालभाई को ही करना पड़ा है। 'गांधी-विचार दोहन' में उन्होंने गांधीजी के विचारों का बड़ा ही सरल और सुबोध विवेचन किया है। (यह पुस्तक गांधीजी के जीवनकाल में बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी और स्वयं गांधीजी ने इसे खूब पसन्द किया था।) गांधीजी के सभी बुनियादी उसूलों और आदर्शों को लेकर किशोरलालभाई ने विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। गांधीजी के विचारों और उद्देश्यों की तह तक उनकी निर्मल बुद्धि और पैनी दृष्टि किस सुगमता के साथ जा सकती थी और कितनी गहराई से वह उनपर विचार करते थे, यह उनके विवेचन को पढ़ने पर ही मालूम होता है।

७ : काकासाहब कालेलकर

पूज्य काकासाहब का जीवन सदा सार्वजनिक जीवन रहा है। शिक्षा समाप्त करके वह विश्वविद्यालय से बाहर आये, तब से उनका जीवन सदा जन-कल्याण की भावना से प्रेरित रहा। तरुणाई के उषाकाल में वह हिमालय की यात्रा पर नाना प्रकार की भावनाओं से प्रेरित हो निकल पड़े थे। इसके बाद गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की विश्व-प्रेम की भावना और साहित्य-साधना से आकर्षित हो वह विश्वभारती, शांतिनिकेतन आ गये। इस बीच पूज्य गांधीजी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में सफल हो कर स्वदेश लौट आये। गांधीजी भी गुरुदेव और शांतिनिकेतन आश्रम के प्रति आकर्षित थे। काकासाहब को तो काम करना था। सोचा, गुरुदेव के आश्रम में ही काम करें। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका के अपने साथियों के

संग शांतिनिकेतन में आकर रहे और उन्होंने वहां के कामों को देखा।

शान्तिनिकेतन में काकासाहव का गांधीजी से प्रत्यक्ष परिचय हुआ। गांधीजी के विचारों और कामों के वारे में उनके मन में श्रद्धा जगी और वह गांधीजी के साथ हो गये। गांधीजी ने तय किया कि स्वतंत्र आश्रम वनाकर ही काम करना ठीक होगा। तव से काकासाहव गांधीजी के साथ ही रहे। यह शायद १९१६ की वात है। पचास वर्ष से ऊपर का लम्वा समय गुजर गया, काकासाहव अपनी निष्ठा के साथ गांधीजी के विचारों और कार्यों को अपने जीवन का उद्देश्य वनाकर देश ही नहीं, विदेशों में भी घूमते रहे हैं। गांधीजी की वातें और उनका जीवन-दर्शन उन्होंने लोगों को समझाया। गांधीजी कहा करते थे "काका और वापा (ठक्कर वापा) के पैरों में चक्कर है।" वह फिरते ही रहते हैं। ठक्कर वापा विदेशों में नहीं गये, पर काकासाहव यूरोप, अमरीका, दक्षिण अफ्रीका, जापान आदि दुनिया के अनेक देशों में गये और गांधीजी की वातें लोगों को समझाईं। काकासाहव का जीवन, ज्ञान और कर्म अत्यन्त व्यापक है।

जिस कुल में उनका जन्म हुआ था, जिन माता-पिता से उन्होंने संस्कार प्राप्त किये थे तथा उस समय महाराष्ट्र का जीवन क्या था, इन सव वातों को उन्होंने 'स्मरण-यात्रा' नाम की अपनी पुस्तक में दिया है। काका-साहव ने अपने वचपन के प्रसंग इतने सत्यनिष्ठ और आत्मीय भाव से लिखे हैं कि पढ़ते हुए मन तल्लीन हो जाता है। वचपन के वारे में वहुत से लोगों ने लिखा है और अच्छा लिखा है, पर 'स्मरण-यात्रा' और साने गुरुजी की 'श्यामची आई' दो कितावें हैं, जिन्हें पढ़ने पर आदमी डूव जाता है। महाराष्ट्र का आचार-व्यवहार, संस्कृति और जीवन में घुली-मिली भारतीयता आंखों के आगे ऐसा तैरती है कि आंखें वन्द कर पुराने जीवन को लौट जाने की इच्छा होती है। पर समय तो आगे वढ़ता है, पुराने जमाने में लौटा नहीं जा सकता। उसमें जो सहज और मंगलमय हैं, उसे सोच-परख कर संजोया ही जा सकता है। आज इस सहज और मंगलमय को संजोकर रखना और कृत्रिम जीवन से वचना वड़ा मुश्किल है, पर काकासाहव जैसे लोग हमारे वीच हैं जो हमें अपनी मिट्टी की

सौंधी महक और गमक को भूलने नहीं देते ।

काकासाहब सत्यनिष्ठा के साथ जीवन के इतने लम्बे समय तक एक ही साधना में लगे हुए हैं। यह साधना भारत की सेवा की, लोकमाता की, भारतमाता की, जो चाहें कह लीजिए, सेवा करना है ।

सन् १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में गांधीजी ने सबसे पहले दो सत्याग्रही चुने थे । जवाहरलालजी को राजनैतिक प्रतिनिधि के रूप में और विनोबा को आध्यात्मिक प्रतिनिधि के रूप में । पर काकासाहब तो उनकी साहित्यिक और कलात्मक प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि ठहरे । जीवन में श्रद्धा से ही सौंदर्य-बोध और कलात्मक प्रवृत्ति बढ़ती है। काकासाहब ने अपने साहित्य में इस सौंदर्य बोध का हमें जो दर्शन कराया है, वह अपूर्व है। जीवन का सहज सौंदर्य, उसका आनन्द, उन्होंने हमें बताया है । हमारी नदियों, तीर्थों और संस्कृति का आत्मीय माहात्म्य उन्होंने बड़ी सहजता के साथ उजागर किया है । 'हिमालय-यात्रा' इसी सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति है। प्रेरणाप्रद और सौंदर्य-बोध वाले साहित्य की रचना करनेवाले सच्चे साहित्यकार हमारे देश में इने-गिने ही हैं । इन इने-गिनों में काकासाहब का विशेष स्थान है । काकासाहब के सम्पर्क में जो लोग आये हैं, उनके ज्ञान और कार्यों से प्रभावित होकर उनके साथ रहे हैं, वे हमेशा यह अनुभव करते हैं कि किसी विशेष व्यक्ति से हमारा सम्बन्ध है ।

काकासाहब संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती और हिन्दी का अच्छे-से-अच्छा ज्ञान रखते हैं । उनका हिन्दी गद्य हिन्दी के संकीर्ण समर्थकों को नहीं भा सकता, पर जो रसज्ञ हैं, वे जानते हैं कि उनका हिन्दी गद्य कितना सरस और प्रेमल है। उनकी मातृभाषा मराठी है, पर उन्होंने अपने साहित्य के लिए गुजराती को चुना और अच्छे-से-अच्छे ग्रंथों से उसके साहित्य-भंडार को भरा है। जबसे बापू ने उनको राष्ट्रभाषा प्रचार का काम सौंपा, तबसे वह हिन्दी में खूब लिखते लगे हैं । काकासाहब के जीवन के अनेक अंगों मे पिछले तीस वर्षों से राष्ट्रभाषा का काम प्रमुख रहा है । दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की तरह काकासाहब के प्रयत्न से पूर्व भारत में राष्ट्रभाषा प्रचार सभा

की स्थापना हुई और उसने बंगाल, असम और उड़ीसा में हिन्दी प्रचार का बहुत काम किया। पर बाद में नाना प्रकार के मत-मतान्तरों के कारण काकासाहब इस सभा या राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा से अलग हो गये और हिन्दुस्तानी के प्रचार का काम पूज्य बापूजी की राय से करने लगे। काकासाहब जो भाषा लिखते हैं, जिस भाषा का प्रचार करते हैं, उसको चाहे कुछ कहें, वह हमारी राष्ट्रभाषा ही है। इतने वर्ष स्वाधीनता का उपभोग करने के बाद भी परायी भाषा के प्रति आसक्ति को देखकर काकासाहब निश्चय ही कुछ क्षणों के लिए दुखित होते हैं, पर मैंने देखा है कि इतनी बड़ी उम्र में भी उनको निराशा छू तक नहीं गई है। पिछले दिनों उन्होंने बातचीत में कहा कि "मैंने सोचा, अब एक ही जगह पर बैठकर लिखने-पढ़ने का काम करूंगा और जिस दिन मेरा जन्मदिन था, उस दिन इस निश्चय की घोषणा करनेवाला था, पर जन्म के दिन अचानक ऐसा लगा कि यह निश्चिय क्यों न करूं कि जब तक जीना है तबतक बैठूंगा नहीं, विश्राम नहीं करूंगा। घूमूंगा-फिरूंगा, लिखता रहूंगा, काम करता रहूंगा। मैं आज भी किसी दिन से अपनी जिम्मेदारी कम नहीं मानता, काम करने के दायित्व से डरता नहीं, भागता नहीं। यही मुझे अच्छा लगता है।"

उसी दिन एक सभा में उन्होंने यह सब कहा। नये कार्यकर्त्ताओं से कहा—आप लोग मामूली खर्च लेकर देश के लिए काम करने के लिए तैयार रहें। काकासाहब से प्रेरित अनेक कार्यकर्त्ता आज भी कई स्थानों में निष्ठापूर्वक काम कर रहे हैं।

काकासाहब के जीवन में कला, साहित्य और सौंदर्य रमा हुआ है। उनकी भव्य आकृति, साफ-सुथरा रहन-सहन तथा व्यवस्था, सभी चीजें एक कलाविद् के दर्शन कराती हैं। उनके हर काम में सहज सुथरी कला होती है। गांधीजी लिफाफों को काटकर उनपर लिखते थे। उनमें उपयोगिता की वणिक वृत्ति थी, पर काकासाहब इस मामले में बापू से थोड़ा आगे जाते हैं। वह उपयोगिता तक ही सीमित नहीं रहते, उसमें सौंदर्य की चाशनी भी डाल देते हैं। उनमें सौंदर्य-बोध बहुत गहरा है, जो छोटी-से-छोटी चीज के प्रति महत्व और वात्सल्य अनुभव करने से

पैदा हुआ है। उनको संतरा और केला छीलते हुए देखना भी एक अनुभव है। छीलने के ढंग में भी उनकी आंतरिक कोमलता और कलात्मकता छिपी नहीं रहती।

८ : कृष्णदास जाजू

भारतीय समाज में शिक्षा और सुधार का कार्य राजा राममोहन राय से शुरू हुआ। ब्रह्म समाज की स्थापना को बंगाल में समाज-सुधार का प्रथम प्रयास माना जाता है। इसी प्रकार भारत के अन्यान्य समाजों में समाज-सुधार के आन्दोलन धीरे-धीरे शुरू हुए। वास्तव में ये सुधार केवल समाज-सुधार नहीं थे, उनके पीछे राष्ट्रीय उत्थान की भावना थी, जो अनेक रूपों में परिस्थिति की अनुकूलता-प्रतिकूलता में पल्लवित हो रही थी। इसी संदर्भ में बहुत विलम्ब से मारवाड़ी समाज में भी सुधार की भावना जगी और वह अनेक संघर्षों से गुजरते हुए उन्नत होती गई। इस प्रक्रिया में हम पूज्य कृष्णदासजी जाजू और जमनालालजी को बहुत आदर और श्रद्धा भाव से स्मरण करते हैं। जमनालालजी ने भी प्रथम प्रेरणा जाजूजी के सहवास, सहयोग और एक प्रकार से पथ-प्रदर्शन में प्राप्त की। जमनालालजी से मैंने बहुत पहले अनेक बार सुना कि जाजू जैसे संत पुरुष विरले ही होते हैं। माहेश्वरी समाज में सुधार का आरम्भ करनेवाले जाजूजी ही थे। उनकी प्रेरणा से अनेक युवकों ने शिक्षा प्राप्त की और देश-समाज के काम में रस लेने लगे। श्री जाजूजी काम्पटी में वकालत करते थे और सारे बरार में नवयुवकों के प्रेरणा-स्रोत थे। १६२१ में पूज्य गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया, तब उन्होंने वकीलों से वकालत और विद्यार्थियों से कालेज छोड़ने को कहा। जाजूजी ने तुरन्त वकालत छोड़कर सारा समय देश-सेवा में लगाने का निश्चय किया। वकालत

करते हुए भी वह प्रामाणिकता से काम करने के कारण वहुत धन नहीं इकट्ठा कर सके। उनका जीवन इतना नियमित, सरल, सादा और मितव्ययितापूर्ण था कि उनको कभी आर्थिक चिन्ता हुई ही नहीं। जितना कुछ होता उसको वहुत किफायतशाही के साथ, संतोष के साथ खर्च कर जीवन-यापन करने में वह मेरी निगाह में एक अद्वितीय पुरुष थे।

वह कलकत्ता आते तब प्रायः मेरे साथ रहने की कृपा करते। एक दिन कहने लगे, "यह गद्दे आदि विछाने से क्या लाभ है? ये साफ़ नहीं होते, धोये नहीं जा सकते और खर्च भी वहुत होता है। उठाने और विछाने में दिक्कत आती है। इनसे तो चटाई अच्छी, जो आसानी से विछाई जा सकती है, उठाई जा सकती है और जगह को साफ-सुथरा रखा जा सकता है। ऐसा लगता है कि व्यर्थ के आडम्बरों में फंस कर हम व्यर्थ समय और शक्ति और धन का अपव्यय करते हैं। गांधीजी के रास्ते चलनेवालों को इन सव चीजों से वचना चाहिए। इसी प्रकार स्नान करने जाते तो अपने कपड़े खुद अपने हाथ से धो लेते। वृद्धावस्था में भी आग्रह करने पर उन्होंने अपने कपड़े किसी दूसरे से नहीं धुलवाये। खाने-पीने, मोटर आदि की सवारी में हमेशा इस वात का ख्याल करते कि कहीं हम मोह वश व्यर्थ की सुख-सुविधा तो नहीं ले रहे हैं। १५ अगस्त १९४७ के वाद पाकिस्तान से शरणार्थी आये तो उन्होंने कहा कि वह शरणार्थियों के काम देखने वाले अधिकारी से मिलना चाहते हैं। मैं उनको अधिकारी के यहां लेकर गया, अधिकारी का नाम मुझे याद नहीं, पर जाजूजी के नाम की चिट भेजी तो कोई उत्तर नहीं आया। काफी देर वैठने और वार-वार कहलाने के वाद भीतर वुलाया गया तो अधिकारी का वर्ताव निहायत हल्का था। उसने सोचा, हम सरकार से सुख-सुविधा लेने आये हैं या कुछ मांग रहे हैं। मैंने तीखे स्वर से कहा, "हम आपसे कुछ लेने नहीं आये हैं और न कुछ मांग रहे हैं, आपकी मदद करना चाहते हैं और क्या आप जानते हैं कि ये कौन हैं?" इसपर अधिकारी कुछ ढीला पड़ा, पर लौटते समय जाजूजी ने मुझसे कहा, "तुमने यह अच्छा नहीं किया। यह सेवक की वृत्ति नहीं है। यह हमारा अभिमान है, जो मौके पर सेवा से च्युत

हो प्रकट हो जाता है। सेवक को सामने-वाले की दिक्कतों का खयाल करना चाहिए। उस अधिकारी की दिक्कतों का अन्दाज आप नहीं कर सकते। उसके पास तो अधिकांश लोग कुछ-न-कुछ मांगने के लिए ही जाते हैं, इसलिए ऐसा समझना गलत नहीं था।"

जाजूजी अपने को साधारण-से-साधारण स्थिति में रखकर सामने वाले की स्थिति को समझने की कोशिश करते थे और इसके लिए उन्हें विशेष प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। उन्होंने साधना के द्वारा ऐसा स्वभाव भी प्राप्त कर लिया था। मान-सम्मान, पद, अधिकार की कभी इच्छा ही उन्हें नहीं हुई।

१९२८ की बात है। मैं वर्धा गया था। उस समय नागपुर म्युनिस्पैलिटी के चेयरमैन का चुनाव हो रहा था। डा० मुन्जे, अभ्यंकर और श्री तांबे, सी. पी. के बड़े नेता थे। तांबे तो सरकार के साथ हो गये, इसलिए उनका सार्वजनिक महत्व घट गया पर डा० मुन्जे और अभ्यंकर में बहुत संघर्ष था। सभी जानते हैं कि डा० मुन्जे हिन्दू भावापन्न थे और अभ्यंकर कांग्रेस के नेता थे। चेयरमैन के संघर्ष में कांग्रेस के पास ऐसा कोई भी आदमी नहीं था, जो डा० मुन्जे की पार्टी को हरा सके। जहांतक मुझे याद है, ऐसा कहा गया कि यदि जाजूजी खड़े हों तो वह निर्विरोध हो जायंगे। डा० मुन्जे भी शायद उम्मीदवार खड़ा न न करें, इसलिए अभ्यंकर जाजूजी के पास आये और उनसे आग्रह किया, पर जाजूजी राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा, "मुझे तो अधिकारों और पदों की राजनीति में पड़ना ही नहीं है।" फिर बापूजी के पास बात गई और उनसे कहा गया कि वह जाजूजी को राजी करें। बापूजी ने जाजूजी से बात की। संयोग से मैं पास बैठा था। मुझे पूरे शब्द याद नहीं, पर यह पक्का याद है कि बापूजी ने कहा कि कांटों का ताज तुम पहन लो। जाजूजी ने कहा, "आपकी आज्ञा को टाल नहीं सकता, पर मेरी इस काम में रुचि नहीं है और मैं इसको कर नहीं सकूंगा। प्रयत्न करने पर भी मेरी पूरी शक्ति इस काम में नहीं लग सकेगी। इसलिए न तो मैं अपने साथ ईमानदार रहूंगा और न पद के साथ और मुझे मानसिक क्लेश होता रहेगा।" इस पर बापूजी ने कहा, "ठीक है, तब मैं तुमको इसके

लिए नहीं कहूंगा।"

आगे जाकर गांधीजी ने 'ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना की तो उन्होंने गांधीजी की आज्ञा से 'ग्रामोद्योग संघ' का अध्यक्ष होना सहर्ष स्वीकार किया। इसके वाद 'चर्खासंघ' के सभापति वने और जीवन-पर्यन्त रहे। हजारों खादी कार्यकर्त्ताओं के साथ उनका पारिवारिक सम्वन्ध जुड़ा। अधिकार, पद, प्रशंसा आदि वातों से दूर रहकर सेवा के कामों में जिस प्रकार से हो सका, पद-ग्रहण करके या ऐसे ही, वे काम करते रहे।

समाज-सुधार के कामों में उन दिनों विलायत-यात्रा सुधार माना जाता था। वह विलायत-यात्रा के पक्ष में रहे और उसके विरोध में होने वाले आन्दोलन का उन्होंने सामना किया। वाल-विवाह और वृद्ध-विवाह का आन्दोलन उन दिनों वहुत जोरों से चला था, उसमें उनका खास हाथ और प्रेरणा थी। मारवाड़ी समाज में पहला विधवा-विवाह सन् १९२६ में हुआ और उसके विरोध में प्रचंड आन्दोलन में लोगों को जात वाहर कर दिया गया तो जाजूजी ने विधवा-विवाह कराने वालों को वरावर पथ-निर्देश दिया और भारी मदद की। माहेश्वरी समाज में डीडू माहेश्वरी-कोलवाल आन्दोलन वहुत ही वृहद् रूप में चला था। इस आन्दोलन में जाजूजी का समर्थन प्रगतिशील पार्टी को था और इससे माहेश्वरी समाज में काफी हलचल के वाद डीडू और कोलवाल का प्रश्न सदा के लिए खत्म हो गया।

रचनात्मक कार्यक्रम के साथ-साथ देश की आजादी के आन्दोलन में उन्होंने गांधीजी के आदेशानुसार भाग लिया और जेल जाते रहे। अन्तिम समय में महान शारीरिक संकट के समय भी उन्होंने अपरिग्रह-वादी जीवन का आग्रह कायम रखा। किसी प्रकार की ऐसी सुख-सुविधा वह नहीं ले सकते थे, जो सर्वसाधारण को नहीं मिलती हो। जयपुर के मेडिकल कालेज अस्पताल में उनका आपरेशन हुआ तो उन्हें एक वहुत अच्छे कमरे में रखा गया। आपरेशन के वाद होश आने पर उन्होंने पूछा, "मैं कहा हूं?" उन्हें वताया गया कि वह एक केविन में हैं तो उन्होंने कहा, "मैं यहां नहीं रह सकता। मुझे सर्वसाधारण की

तरह रखो, उसीमें मुझे सुख मिलेगा।" उनके आग्रह पर उन्हें वहां से हटाना पड़ा। यह उनकी त्याग की, अभोग की और अपरिग्रह की अंतिम साधना थी।

९ : ठक्करबापा

सन् १९३२ ई० में पूज्य गांधीजी के प्रसिद्ध यरवदा जेल के उपवास के बाद हरिजनों की स्थिति सुधारने के उद्देश्य से 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना हुई। इसके सभापति श्री घनश्यामदासजी बिरला बनाये गए और मंत्री ठक्करबापा। इसके पहले ठक्करबापा का नाम मेरे सामने नहीं आया था। स्वभावतः ठक्करबापा के बारे में जानने की इच्छा हुई। मालूम हुआ कि वह बहुत वर्षों से आदिम जातियों में काम कर रहे हैं और मूक सेवक हैं, बापूजी के सिद्धान्तों और विचारों से प्रभावित हैं। कुछ ही दिनों बाद ठक्करबापा से साक्षात्कार भी हुआ। प्रथम दर्शन में ही उनके प्रति श्रद्धा जगी और उनकी प्रामाणिकता, कार्यपटुता, परिश्रमशीलता और सादगीपूर्ण जीवन का मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

"वह मेरे मित्र भागीरथजी कानोड़िया के यहां ठहरे थे। उन्होंने कुछ तार भेजने के लिए दिये। तार लगा दिये गए तो उन्होंने पूछा, "कितने पैसे लगे?" हमने कहा, पैसे तो लग गये। अब उसका हिसाब क्या? कहने लगे, "उसके पैसे लो। कितने लगे?" हम लोगों ने कहा, ठीक है, तो बोले, मैं ऐसा नहीं कर सकता। पैसे पूरे लो। मैं उसे अपने हिसाब में लिखूंगा और उसकी रसीद साथ जोड़ूंगा। यह सार्वजनिक काम है, सार्वजनिक पैसा है, एक-एक पैसे का हिसाब संस्था के पास ही नहीं देना है, भगवान के पास भी देना है। तुम लोग संस्था को जितनी इच्छा हो, सहायता कर सकते हो। मैं उसकी रसीद दूंगा, पैसा जमा करूंगा।

मैं ऐसा नहीं करता कि इधर से दो रुपये खर्च हो गये उधर से पांच और उनका कोई हिसाब न रहा।" यह उनकी कार्य-पटुता और व्यवस्था का उदाहरण है। वह बहुत यात्राएं करते थे और यात्राओं का खर्च भी कम-से-कम करते और नियमित रखते थे। उन्होंने अपना जीवन इतना सादा और सरल बना लिया था कि उन्हें किसी प्रकार की विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती थी। जैसा मिलता था, वैसा ही सरकारी खाना खाकर अपना काम मजे में चला लेते थे। उनका अपना निजी खर्च साधारण-से-साधारण कार्यकर्त्ता से कभी अधिक नहीं हुआ।

एक बार की बात है। वह मेरे घर ठहरे। भोजन करके बाहर गये तो कह गये कि शाम को छः बजे तक लौटूंगा। हम लोग भी बाहर चले गये, घर में एक नौकरानी, जो कपड़ा धोने का काम करती थी, वही रही। ठक्करबापा का काम जल्दी हो गया, इसलिए वह जल्दी लौट आये। नौकरानी से पूछा, "कपड़े कहां सूखते हैं?" नौकरानी ने बताया छत पर। वह कपड़े लाने छत पर गये। हम लोग छत पर कभी नहीं जाते थे, इसलिए सीढ़ियों पर जाले लगे हुए थे। उन्होंने सीढ़ियों के जाले साफ किये और कपड़े उतार कर लाये। उन दिनों हमारे घरों में कपड़ों पर इस्तरी नहीं होती थी। यों ही हाथ से कपड़ों की सलवट निकालकर घड़ी कर लेते थे। ठक्करबापा ने जाले साफ करने के बाद अपने कपड़ों की हाथ से सलवट निकालकर घड़ी की। हम लोग शाम को लौटे तो कपड़े ठीक किये हुए मिले। हमने पूछा, कपड़ों को घड़ी किसने की, उन्होंने यह सुना तो बोले, "मैंने की। वहां का काम जल्दी हो गया। जल्दी लौट आये। तुम्हारी सीढ़ियों के जाले साफ किये, कपड़ों की घड़ी की, समय था, बैठा क्या करता!" हमने कहा, "सीढ़ियों के जाले कौन से?" सीढ़ियों पर जाले थे, इसका हमको पता नहीं था। हमें लज्जा आई और कहा कि आपने ठीक नहीं किया, तो वह समझ ही नहीं पाये कि उन्होंने कुछ किया भी है! कहने लगे, "इसमें क्या बात है! अपने कपड़ों की घड़ी की, तो तुम्हारे कपड़ों की भी कर दी, जाले दीखे तो साफ कर दिये।" हम लोगों पर उनके चरित्र की अद्‌भुत छाप पड़ी, जो तीस-पैंतीस वर्ष के बाद भी अमिट है।

एक बार घनश्यामदासजी ने बताया कि ठक्करबापा का कोट जगह-जगह से फटा हुआ था। उनसे कहा गया कि नया कोट बनवा लीजिए, फटा कोट बहुत बुरा लगता है। इसपर ठक्करबापा बोले, "इसका क्या बिगड़ा है? यह अभी तो कई वर्ष चल सकता है।" कई बार कहने पर भी उन्होंने नया कोट नही बनवाया। एक दिन घनश्यामदासजी ने उनकी अनुपस्थिति में दर्जी को बुलवाकर पुराने कोट के माप का नया कोट बनवा दिया। कोट बनकर आया तो रात में वह रख दिया गया और पुराना कोट हटा दिया गया। ठक्करबापा उठे। स्नान आदि करके कोट पहनने के लिए कोट खोजा तो नया कोट मिला। "मेरा कोट कहां है?" और वह उसकी खोज में लग गये। कुछ देर खोज करने पर कोट नहीं मिला तो उनके ध्यान में आया कि यह काम घनश्यामदासजी ने किया है। अब तो इसे ही पहनना होगा, क्योंकि दूसरा कोट तो था नहीं। वह कम-से-कम कपड़े रखते थे। किसी भी प्रकार की संग्रहवृत्ति उनमें न थी।

एक बार बात करते हुए मैंने उनसे कहा, "ठक्करबापा, आपकी सेवाओं से हरिजन और दूसरे उपेक्षित लोगों की जो सेवा हुई है, उससे भी अधिक पूज्य बापूजी की सेवा हुई है, क्योंकि इस प्रकार की लगन और निष्ठा से बापूजी का काम करनेवाले लोग कहां हैं!" "ठक्करबापा की आंखें गीली हो गईं, हृदय भर आया और आर्द्र स्वर में बोले, "मैं बापूजी की क्या सेवा कर सकता हूं! बापूजी के उपकार और ऋण मुझपर अनन्त हैं। हम बापूजी को कुछ भी संतोष करा सकें तो सेवा नहीं, अपने आपको संतोष दे सकते हैं। हमारा सौभाग्य है कि बापूजी की कृपा मुझे मिली।"

ठक्करबापा की छवि ओझल नहीं होती। अनेक लोग ठक्करबापा के सम्पर्क में आये हैं और वे इसी प्रकार किसी-न-किसी रूप में उनसे प्रभावित हुए और प्रभावित हैं।

१ : देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद

सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन के दिन थे। प्राय: रोज सभाएं रहतीं। इन सभाओं में बंगाल के नेता देशबन्धु चितरंजन-दास, विपिनचन्द्रपाल, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती आदि अनेक लोगों के व्याख्यान होते थे। वे जनता को विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, विद्यार्थियों को स्कूल, कालेज का बहिष्कार, वकीलों को अदालत, कचहरियों का बहिष्कार करने के लिए प्रेरित करते। इन सभाओं में बड़ी उपस्थिति रहती और जोश का तो क्या कहना! नेताओं के व्याख्यान बड़े उत्तेजना-पूर्ण होते।

इस सिलसिले में चितरंजन एवेन्यू के मुहम्मदअली पार्क (जो उन दिनों हालीडे पार्क के नाम से जाना जाता था) एक सभा में खादी का साधारण कुर्त्ता और गांधी टोपी पहने, कन्धे पर एक खादी की मोटी-सी चादर रखे, निहायत सरल देहाती-से आदमी को मंच पर बैठे देखा। सोचा, यह आदमी कौन है, जिसको देशबन्धु जैसे बड़े नेता के पास बैठाया गया है? फिर उनको व्याख्यान देने के लिए कहा गया और उन्होंने अपना व्याख्यान हिन्दी में दिया। साधारण शब्दावली, न कोई जोशफरोश की बातें। साधारण भाव से उन्होंने अपनी बातें कहीं, पर उन बातों को सुननेवालों पर ऐसा प्रभाव नजर आ रहा था कि वे उन मनोभावों, विचारों के साथ जैसे बहे जा रहे हों। मैंने

वहां के लोगों से पूछा कि यह देहाती-सा कौन आदमी इतना अच्छा बोलनेवाला है? बताया गया कि यह राजेन्द्रबाबू हैं और बिहार के बहुत बड़े वकील हैं। इन्होंने महात्माजी के प्रभाव में आकर अपनी बहुत बड़ी वकालत छोड़ दी और असहयोग आन्दोलन में शरीक हो गये।

मैंने राजेन्द्रबाबू को पहले-पहल इसी मीटिंग में देखा था और उनका व्याख्यान सुना था। उनकी साफगोई और सच्चाई की बातों से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उनकी मूर्ति आज भी मेरी आंखों में ज्यों-की-त्यों तैर रही है। इसके बाद की बातें बहुत हैं, पर मुझे वह मूर्ति बिसरती नहीं। इसके बाद मैं उनके बारे में अधिक जानने की कोशिश करता रहा और ज्यों-ज्यों उनके जीवन की झांकियों के दर्शन होते गये त्यों-त्यों उनके प्रति अगाध श्रद्धा बढ़ती गई। सौभाग्य और संयोग की बात कि बहुत जल्दी ही उनसे परिचय और सम्बन्ध भी हो गया। जमनालालजी के कारण उनको बहुत नजदीक से देखने-सुनने का मौका मिला। प्रायः ऐसा हुआ करता है कि बड़े लोग दूर से जितने बड़े और अच्छे लगते हैं उतने अच्छे नजदीक जाने पर नहीं लगते पर राजेन्द्रबाबू को कोई जितना नजदीक से देखे, उतना ही उस पर ज्यादा प्रभाव पड़े। उनके जीवन की विधियां और प्रवृत्तियों का, उनकी सादगी, सरलता, सच्चाई और देशभक्ति का, सबका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता था।

सन् १९३४ में बिहार में भयंकर भूकम्प हुआ, जिसमें बिहार की खास कर उत्तर बिहार की, अपरिमित क्षति हुई। उन दिनों आंदोलन चल रहा था। राजेन्द्रबाबू तथा बिहार के सारे नेता और कार्यकर्त्ता जेलों में थे। सरकार ने महसूस किया कि बिहार की इस दैवी विपत्ति के समय नेताओं को जेल में रखकर इस संकट का सामना नहीं किया जा सकता। सब लोगों को मुक्त कर दिया गया। राजेन्द्रबाबू पुराने दमे के रोगी थे। जेल में यह रोग और भी बढ़ गया था। हम लोग, उनसे मिलने गये तो उनके कृश शरीर और दमे के उठाव को देखकर बड़ा कष्ट हुआ। पर उनको अपने शरीर की कोई चिन्ता नहीं थी।

वह आतुर हो रहे थे कि आर्त्त और पीड़ित जनता को सहायता कैसे पहुंचाई जाय। एक रिलीफ कमेटी वनी जिसका सभापति राजेन्द्रवावू को वनाया गया। सारे देश में विहार के इन दुर्दिनों के लिए राजेन्द्र-वावू की अपील का जादू का-सा असर हुआ। जगह-जगह से सहायता आने लगी। राजेन्द्रवावू रात-दिन इस रिलीफ कमेटी में अपना सारा समय लगाते रहे। इसका यह प्रभाव हुआ कि विहार के तथा वाहर के हजारों कार्यकर्त्ता उस काम में उत्साह, लगन और परिश्रम के साथ जुट गये और लाखों रुपयों की सहायता और सामान का ढेर लग गया। राजेन्द्र-वावू को जिन्होंने सदाकत आश्रम में यह सव काम करते देखा है, कार्यकर्त्ताओं को जो प्रेरणा उनके द्वारा मिली है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे कार्यकर्त्ता जो उनके निजी सम्पर्क में आये हैं, वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

इसके वाद वम्वई में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। सारे देश ने सर्वसम्मति से उनको उस समय के राष्ट्रपति के पद पर वैठाया। राजेन्द्रवावू जेल से निकलकर विहार के कामों में लग गये थे फिर कांग्रेस के सभापति वने। इस प्रकार उनको ज़रा भी विश्राम नहीं मिला। कांग्रेस के सभापति वनते ही उन्होंने सारे देश का दौरा किया। कांग्रेस के सभापति देश के हर हिस्से में जायं, यह प्रथा राजेन्द्रवावू ने प्रारम्भ की।

एक वार सीकर में जमनालालजी के वंगले पर विश्राम करने के लिए वह कुछ दिन को गये। प्राय: ऐसे मौकों पर कई वार में साथ रहा करता। एक दिन राजेन्द्रवावू एक खद्दर का कोट पहनकर वाहर घूमने के लिए चले। रास्ते में मैंने कहा कि यह कोट कैसा पहन लिया आपने ? खादी का दोहरा कोट तो वहुत ही भद्दा लगता है। उन्होंने कहा, "इसकी वात सुनोगे। सन् १९२८ में डुमरांव का मुकदमा लड़ने के लिए मुझे लंदन जाना पड़ा। पं० मोतीलालजी के साथ जाने के पहले मैंने सोचा कि वहां सरदी ज्यादा पड़ती है। एक खादी का दोहरा कोट सिला लें। जव यह कोट वहां मैंने पहना तो पंडितजी ने कहा कि 'राजेन्द्र, यह तुमने क्या पहन लिया ? मैंने कहा कि महाराज,

कोट पहना है, तो वह बोले, क्या कोट पहना है ? बहुत भद्दा लगता है। तुम तो कपड़े सिर्फ शरीर ढकने लिए पहनते हो। मैंने सोचा कि कपड़ा शरीर ढकने के लिए ही तो पहना जाता है। यही बात मैंने पण्डितजी से भी कही। वह तो कपड़ों के बहुत शौकीन थे, बोले, 'कपड़े सिर्फ तन ढांकने के लिए ही नहीं पहने जाते, आदमी अच्छा दीख सके, इसके लिए भी पहने जाते हैं।' आज बारह-तेरह वर्ष से यह कोट मेरे पास है और इसका अपना एक इतिहास है।" यह थी राजेन्द्र-बाबू की सादगी।

एक बार हम लोग पिलानी से शायद सीकर लौट रहे थे। चिड़ावा रास्ते में पड़ा, जो पिलानी से शायद आठेक मील है। राजेन्द्रबाबू ने पूछा कि मातादीन यहां के रहनेवाले हैं न ? मैंने कहा, जी, यहीं के हैं। बोले, उनकी माता और स्त्री से मिलना अच्छा रहेगा। मातादीन तो जेल में हैं। वह किसी आंदोलन के कारण जेल में थे। हम लोग खोजते-खोजते उनके घर पहुंचे। राजेन्द्रबाबू के साथ थे उनके निजी सचिव और साथी मथुराबाबू। वे दोनों महिलाएं इन लोगों को आया देखकर बाग-बाग हो गईं। राजेन्द्रबाबू ने उनको धीरज बंधाया तथा मातादीन के काम की सराहना करके उनको संतोष कराया। इसी प्रकार न जाने सारे भारत में उन्होंने कितने कार्यकर्त्ताओं और उनके परिवारों के दुख-सुख में शामिल होकर उनको धीरज, साहस देकर उनका उत्साह बढ़ाया।

राजेन्द्रबाबू जैसे वही थे। उनकी तुलना किससे की जाय, वह हमारे देश के गौरव थे। सादगी, सरलता, सहृदयता के प्रतीक थे। वह देश के और कांग्रेस के अनन्य सेवक थे। सारी उम्र उन्होंने देश की सेवा की। ऐसे लोगों से देश पवित्र होता है।

२ : लोकनेता जवाहरलाल

सन् १६१६ की अप्रैल में अमृतसर में जलियांवाला वाग की दुखद दुर्घटना के कारण सारे भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रति एक भयंकर रोष और घृणा पैदा हो गई। इस घटना के वाद अंग्रेजों ने पंजाव में वुरी तरह दमन किया। हर देश-भक्त के दिल में पीड़ा थी। इस स्थिति का प्रतिकार करने की भावना प्रवल होती जा रही थी।

कांग्रेस का अगला अधिवेशन पहले से ही अमृतसर में होना तय हो चुका था। लेकिन जो स्थिति वन गई थी उसमें वहां अधिवेशन करना मुश्किल हो रहा था। नाना प्रकार के भय और शंकाएं थीं। इस स्थिति में पं० मोतीलाल नेहरू तथा श्री चितरंजनदास के तत्त्वावधान में एक जांच कमेटी वनी। दोनों ही देश के वड़े वैरिस्टर और उच्चकोटि के कानून ज्ञाता थे। इस कमेटी की रिपोर्ट पं० मोतीलालजी और दास साहव ने वहुत परिश्रम करके तैयार की। इस रिपोर्ट में उस समय के शासन के अत्याचार की कहानी जिस रूप में सामने आई वह हृदय-द्रावक तो थी ही, इससे देश में एक ऐसी प्रतिक्रिया पैदा हुई कि एक वर्ष के भीतर ही १६२१ में असहयोग आन्दोलन शुरू हो गया। इस आन्दोलन में जवाहरलालजी नेहरू का भाग वहुत ही महत्वपूर्ण था। यों तो पं० मोतीलालजी ही उस समय वड़े नेताओं में थे, पर मोतीलालजी को इस आन्दोलन में लाने का श्रेय भी वास्तव में जवाहरलालजी को ही दिया जा सकता है। इसके वाद तो नेहरू-परिवार के वलिदान की कहानी अपनी सानी नहीं रखती। इस कुटुम्व के छोटे-वड़े, पुरुष और स्त्री जवतक देश स्वाधीन नहीं हुआ तवतक के लिए स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक हो गये।

सन् १६२६ की ३१ दिसम्वर की रात को वारह वजे लाहौर में रावी के किनारे कांग्रेस के सभापति की। हैसियत से जवाहरलालजी ने पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव की घोषणा की इस घोषणा से उनके मन और तन में जो खुशी और प्रसन्नता पैदा हुई, वह उस दिन जिन लोगों

ने देखी वह जवाहरलालजी के उस रूप को भुला नहीं सकते। लाहौर की भीषण सर्दी में रावी के किनारे आग जलाकर वह अन्य लोगों के साथ चार-पांच घण्टे नाचे। उनके उत्साह से सारे लोगों का मन उत्साह से भर गया।

सिखों का चिमटा वजा-वजाकर यह गाना 'नहीं रखनी सरकार, जालिम नहीं रखनी' और लाल कुरतीधारी खान अब्दुल गफ्फार साहव के दल का यह गान 'लग गई लगन आजादी दी जाहँ दिल दे वीच, वे मजनू होकर फिरते हैं, हर शहरा हर मुलके वीच' और इन गानों के साथ जवाहरलालजी का नाचना एक अद्भुत जोश और देशभक्ति पैदा कर रहा था। इसके वाद ही सन् १९३१ की जनवरी को वह स्वाधीनता-संकल्प कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने सारे देश में प्रचारित किया। लाखों-लाखों लोगों ने उस संकल्प को पढ़ा और प्रतिज्ञाएं कीं तथा ६ अप्रैल को गांधीजी ने डांडी में समुद्र-किनारे नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह शुरू किया।

सन् १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में गांधीजी ने अपने दो प्रतिनिधि चुनकर उन्हें सवसे पहला सत्याग्रही घोषित किया, राजनैतिक रूप में जवाहरलालजी को और आध्यात्मिक रूप में विनोवाजी को। इसके वाद सन् १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन हुआ। देश की स्वाधीनता के इन चारों प्रमुख आन्दोलनों में जवाहरलालजी की वीरता, त्याग, कष्ट-सहन करने की शक्ति और देशभक्ति दिन-दिन निखरती गई और वह हमारे सवसे वड़े सेनानी सिद्ध होते गये।

जवाहरलालजी का लालन-पालन, शिक्षा और रहन-सहन बहुत ही उच्च आभिजात्य ढंग पर हुआ था, लेकिन उनके मानस पर इसका अधिक असर नहीं रहा। वह जन-साधारण का जीवन जीना पसन्द करते थे। एक वार की वात है। माता स्वरूपरानीजी खादी भंडार में खादी खरीदने आईं तो उनको वढ़िया-से-वढ़िया खादी दिखाई गई। उन्होंने कहा, "मुझे जवाहर के लिए खादी लेनी है।" उनसे कहा गया कि इससे वढ़िया खादी तो आती ही नहीं तो उनका गला भर आया, "यह तो ठीक है, पर वह वढ़िया कहां पहनता है! वह तो मोटी खादी पसन्द करता

है, इसलिए मोटी खादी दिखाम्रो।" इसी प्रकार एक दिन उन्होंने एक कविता सुनाई, जो सीधी-सादी भाषा में तुकबंदी-जैसी थी, पर मातृत्व और वात्सल्य की करुणा में बेजोड़ थी। उन्होंने कहा कि लखनऊ-जेल में जवाहर से मिलकर लौटते समय ट्रेन में मैं बहुत दुखित हो गई थी और यह सब लिख गई।

साइमन-कमीशन का लखनऊ में बायकाट करते समय जवाहर-लालजी पर लाठी का प्रहार हुआ था तथा नाभा जैसी छोटी रियासत ने उनको हथकड़ी पहनाकर अपनी जेल में बन्द कर दिया था। सन् १९३७ की बात है। गांधीजी को रक्त के दबाव के कारण बम्बई-जुहू में लाया गया। वर्किंग कमेटी या अन्य सभाएं गांधीजी जहां जाते, उनके पीछे-पीछे जातीं। यहां भी वर्किंग कमेटी की मीटिंग थी। मीटिंग शाम को चार बजे के करीब अगले दिन के लिए स्थगित हुई, तो दादाभाई नौरोजी की पोती पेरिनबेन कैप्टन ने एक प्रोग्राम बनाया, गांधीजी के स्थान पर नेताओं का मनोरंजन करने के लिए। संयोगवश योंही बात चली कि गांधीजी और जवाहरलालजी में कौन ज्यादा दिन जेल में रहा। मनोरंजन के रूप में ही यह सवाल आ गया। हिसाब लगाकर देखा गया, तो पता चला कि जवाहरलालजी जेल में ज्यादा रहे, यद्यपि सजा ज्यादा लम्बी गांधीजी को मिली। ये सब तथा और अनेक बातें हैं, जो जवाहरलाल-जी के कष्ट-सहन, त्याग, तप को स्वतंत्रता-आंदोलन के इतिहास में प्रकट करती हैं।

इसके सिवा उनमें नेतृत्व की शक्ति थी, देश की स्थिति समझने-जानने का ज्ञान था, जन-साधारण में जाकर मिलकर काम करने की इच्छा, भावना और कार्य-शक्ति थी। गांधीजी के विचारों के साथ विरोध होते हुए भी वह गांधीजी के इतने नजदीक थे जितना दूसरा कोई नहीं था। गांधीजी ने सन् १९४१ की जनवरी में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में कहा था, "लोग मुझसे पूछते हैं कि राजेन्द्रबाबू, वल्लभभाई या अन्य आपके विचारों को अधिक मानते हैं या और ज्यादा साथ हैं, पर उनकी अपेक्षा आप जवाहरलालजी को ही अपना उत्तराधिकारी क्यों मानते हैं? यह सब ठीक है, मैं जानता हूं। तब भी मैं

यही कहता हूं कि सचमुच मेरा वारिस तो जवाहरलाल ही है।"

जवाहरलालजी ऐसा तपा हुआ सोना थे, जो शत-प्रतिशत सच्चा कुंदन कहा जा सकता है। गांधीजी ने कहा था,"जवाहर शुभ्रस्फटिक है, देश उसके हाथ में सुरक्षित है।" उन्होंने कांग्रेस का नाना रूपों में, वालंटियर से लेकर सभापति के पद तक, नेतृत्व किया। कांग्रेस के जितने भी प्रस्ताव होते, उनमें जवाहरलालजी का विशेष हाथ होता था। राजाजी, जवाहरलालजी और गांधीजी ही विशेषकर प्रस्तावों का मसविदा बनाया करते और उनपर विचार होता। कांग्रेस की नीतियां निर्धारित करने में गांधीजी के बाद किसीका बड़ा हाथ था तो वह जवाहरलालजी का ही था। कहा जा सकता है कि दो विचारधाराएं चलती थीं : एक गांधीजी की और दूसरी जवाहरलालजी की। वर्किंग कमेटी में ऐसे-ऐसे विवाद भी आये हैं जब कांग्रेस के भीतर-ही-भीतर बड़ी गड़बड़ मालूम होने लगती, पर गांधीजी की दूरदर्शिता और जवाहरलालजी की गांधीजी के प्रति आस्था से सब बातें ठीक हो जाती थीं।

३ : तेजस्वी सरदार

लोग सरदार पटेल को 'लौह पुरुष' कहते हैं। यह नाम प्यारा और प्रसिद्ध भी हो गया है, पर मैं सोचता हूं तो ऐसा लगता है कि यह नाम उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को व्यक्त नहीं करता। लौह पुरुष नाम, ऐसा लगता है कि योंही चल पड़ा। मुझे उनके दर्शन और कार्य को लौह पुरुष की अपेक्षा यदि कोई नाम ही देना होता तो दृढ़ पुरुष ज्यादा अच्छा लगता। सरदार पटेल के जीवन में, हर जगह हर मौके पर ऐसी दृढ़ता के दर्शन होते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। त्रिपुरी-कांग्रेस जब आरम्भ हुई उसी समय चारों ओर से हो-हल्ला होने लगा और पत्थर बरसने लगे। बंगाल के प्रतिनिधि काफी हल्ला कर रहे थे,

पत्थर ग्राकर गिर रहे थे । मैं सरदार के पास ही वैठा था । मैंने कहा, "ग्रव क्या होगा, कैसे होगा," तो हँसे ग्रौर वोले, "डरते हो ?" मैंने कहा, "डरने की वात नहीं । कांग्रेस का इस हालत में ग्रधिवेशन कैसे होगा ?" कहने लगे, "ग्ररे, कांग्रेस को चलाने के ग्रनेक रास्ते हैं । यह तो योंही घंटे-दो घंटे में चुप हो जायंगे ।" हर हालत में, चाहे कितनी भी विपरीत स्थिति हो, सरदार का न तो धीरज टूटता था, न वह चिंतित होते थे, । उनकी दृढ़ता वैसे ही ग्रडिग रहती जैसे कुछ हुग्रा ही नहीं । वह साधारणतः सहज ही वड़ी-वड़ी वातों से प्रभावित नहीं होते थे । यदि वह प्रभावित होते थे तो ग्रादमी की कार्यक्षमता, सत्यता, प्रामाणिकता से । शायद वहुत कम लोग जानते हैं कि गांधीजी जव दक्षिण ग्रफ्रीका से लौटकर ग्राये तो ग्रहमदावाद की वार एसोशियेशन ने उन्हें मानपत्र दिया । सरदार उन दिनों वैरिस्टरी करते थे । गांधीजी ग्राये ग्रौर उनका ग्रभिनन्दन हुग्रा, पर सरदार ग्रपने मित्रों से वैठे वात करते रहे ग्रौर गांधीजी से ज़रा भी प्रभावित नहीं हुए, न उनको कोई खास वड़ा ग्रादमी ही माना, पर कुछ ही वर्षों वाद वह गांधीजी के कार्यों से इतने प्रभावित हुए कि ग्रपनी ग्रच्छी चलती वकालत को छोड़कर सम्पूर्ण रूप से गांधीजी के साथ हो गये ।

सरदार पटेल, उनके बड़े भाई प्रेसीडेन्ट पटेल ग्रौर उनके छोटे भाई नरसिंहभाई पटेल तीनों ही ग्रपने-ग्रपने स्थानों पर विशेष ग्रादमी थे । विट्ठलभाई के जीवन की विशेषताग्रों का यहां उल्लेख नहीं करना है । वे सर्वविदित हैं ग्रौर ग्रपने ढंग की ग्रनोखी हैं । सरदार की तो वात ही दूसरी है । वह ग्रद्भुत संगठनकर्त्ता थे । वारडोली-ग्रान्दोलन में सरदार ने जो संगठन किया था ग्रौर ग्रांदोलन का जिस तरह संचालन किया, वह भारत की स्वतंत्रता के इतिहास में ग्रपने ढंग का एक निराला ग्रांदोलन ही नहीं, एक ज्वलंत उदाहरण भी है । वारडोली के ग्रांदोलन के समय ही वल्लभभाई को सरदार के नाम से पुकारा गया ग्रौर सरदार की सरदारी में वह ग्रान्दोलन जिस तीव्रता, निर्भीकता, वहादुरी ग्रौर त्याग की भावना से चला, वह ग्रपने ढंग की एक नई वात थी । उस महान ग्रांदोलन का ग्रपना इतिहास है ग्रौर वड़ा

ही प्रेरणाप्रद है। वास्तव में वह आंदोलन ही गांधीजी के अहिंसक आंदोलन की भूमिका था और सरदार उस आंदोलन के एकमात्र नेता थे। इसमें कोई शक नहीं कि सरदार ने अपने त्याग और प्रभाव से गुजरात में अनेक कार्यकर्त्ता तैयार किये थे और वापूजी को ऐसे लोगों ने ही भारत का नेतृत्व करने का वल दिया था। सरदार सम्पूर्ण वम्वई और गुजरात के एकमात्र नेता थे। सरदार गांधीजी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा से समर्पित थे। ऐसे-ऐसे महान लोगों को पाकर गांधीजी ने स्वतंत्रता की लड़ाई में सफलता प्राप्त की थी।

सरदार का कार्यकर्त्ताओं पर ऐसा प्रभाव था, जो अन्य किसी नेता का अपने साथियों पर कम देखने को मिलता है। हरिपुरा-कांग्रेस की वात है। इस कांग्रेस की स्वागत-समिति के सभापति थे दरबार गोपालदास, जो गुजरात के एक वड़े जमींदार थे, पर वापूजी और सरदार के प्रभाव में आकर आजादी की लड़ाई के एक प्रभावशाली लड़वैये वन गए। सरकारी कोप के कारण उनकी जमीन और सव अधिकार छीन लिये गये, जेलों की यातना, सम्पत्ति की जब्ती और आएदिनों के अनेक कष्टों ने दरवार गोपालदास को अपने तालुका का विशेष आदमी वना दिया था और देश उस समय दरवार गोपालदास को खूब जानता था। ऐसे व्यक्ति को ही इस कांग्रेस की स्वागत-समिति का सभापति वनाया गया था। जो लोग कांग्रेस के इतिहास को जानते हैं और कांग्रेस अधिवेशनों में शरीक होते रहे हैं, उनको पता है कि कांग्रेस के सारे इतिहास में हरिपुरा-कांग्रेस की जैसी व्यवस्था कहीं भी शायद उसके पहले और बाद में कभी नहीं हुई। दस हजार स्वयंसेवक और तीन हजार स्वयंसेविकाएं चौबीसों घंटे जिस तरह काम में जुटी रहती थीं और उनकी लगन, तत्परता, काम के प्रति दायित्व की भावना ऐसी थी कि गुजरात की विशेषता, कार्यक्षमता, सफाई-प्रियता के जो दर्शन हुए, उसकी याद आज भी ताजा है। ऐसी स्वागत समिति के सभापति दरवार गोपालदास जव कांग्रेस प्रतिनिधियों का स्वागत करने मंच पर आये तो लोगों ने करतल ध्वनि से उनका बहुत ही भावभरा स्वागत किया और सोचने लगे कि देखें दरवारसाहब अपने

व्याख्यान में क्या कहते हैं। पर उनका व्याख्यान भी कांग्रेस स्वागत समिति के सभापतियों के व्याख्यानों में लाजवाव था। उन्होंने अपनी जेव से एक छपा हुआ कागज निकाला और कहा कि गुजरात की वात, गुजरात का काम, गुजरात की कमी या विशेपता तथा देश की समस्याओं पर मुझे कुछ नहीं कहना है। हमारे यहां कहने का अधिकार वल्लभभाई पटेल को है, हम सब उनके सिपाही हैं। सिपाही को सरदार जो हुक्म देते हैं, उसका कर्तव्य होता है कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उस हुक्म का पालन करे। मुझे उन्होंने कह दिया कि तुमको स्वागत-समिति का सभापति वनना है। मैं इसके योग्य हूं या नहीं, यह सवाल नहीं उठता, सरदार की आज्ञा का पालन करना हम सवका काम है। अतः यहां आप लोगों को हमारी स्वागत-व्यवस्था में जो कष्ट और आराम हुआ है, उसकी प्रशंसा या निन्दा सरदार की है, इसका सारा श्रेय किसीको है तो वह सरदार को है। हम सव उनकी आज्ञा पर चलने-वाले लोग हैं। इस तरह की निष्ठा, निरभिमानता गुजरात के कार्यकर्त्ताओं और नेताओं में प्रकट हुई है, सो वापूजी और सरदार के नेतृत्व के कारण।

सरदार वल्लभभाई गुजरात के नहीं, सारे भारत के एक विशेष नेता वन गये। वारडोली-सत्याग्रह के वाद ही कांग्रेस संगठन की वाग-डोर वल्लभभाई के हाथ में थी, हर प्रांत के कार्यकर्त्ताओं का सरदार से सीधा संवंध था। वह हर प्रांत की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान रखते थे, वहां के सच्चे कार्यकर्त्ताओं को पहचानते थे। उनके स्वभाव की एक विशेपता थी कि वह आदमी को परखना जानते थे और जो आदमी उनको सही लगता उसपर पूरा विश्वास करते। उनका विश्वास पाने के वाद अगर दुनिया का कोई वड़े-से-वड़ा आदमी भी उसके विरुद्ध कुछ कहता या करता तो वह सब अपने ऊपर ले लेते और कार्यकर्त्ता को निर्भीक होकर काम करने के लिए छोड़ देते। उसे किसीसे डरना नहीं होता। सरदार स्वयं उसके जिम्मेदार वनते। अनजाने हुई भूलों को माफ करते। उनकी दृढ़ता का कार्यकर्त्ता पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वह उनके साथ सत्यनिष्ठ बन जाता था और सत्यनिष्ठ रहता था।

जहां कहीं उनको यह संदेह होता था कि कार्यकर्त्ता लोभ से किसी भी प्रकार की भ्रष्टता में पड़ गया है, तो वह उस कार्यकर्त्ता को कांग्रेस से खत्म कर देते और कह देते तुम कांग्रेस में रहने योग्य नहीं हो, अपना अन्य जगह काम करो। पार्लमिंटरी बोर्ड में, आई० एन० ए० के मामले में तथा अन्य कामों पर जब-जब उनको देखने का मुझे मौका मिला तब-तब यह आभास हुआ कि हम एक निहायत योग्य शासक और संगठन-कर्त्ता के समीप बैठे हैं। मंत्री बनने के पहले जैसे वह रहते थे और जिस तरह का उनका जीवन था उसके बाद उसमें मैंने कोई अन्तर नहीं देखा। और मंत्रियों की कोठियों में काश्मीर और मिर्जापुर के कालीन बिछे हुए थे, पर सरदार की कोठी में ऊंट के बालों के कालीन थे। उन्होंने जीवन-पर्यन्त अपने और मणिबहन के हाथ के कते सूत के कपड़े पहने। केवल सर्दी के समय एक जाकट पहनते थे और एक चद्दर इस्तेमाल करते थे।

उनमें विनोद भी अद्भुत था। एक बार जुहू में मैं जमना-लालजी के पास बैठा बात कर रहा था। जमनालालजी चर्खा कात रहे थे और जानकीदेवी बगल के कमरे में प्रार्थना कर रही थीं। सरदार आये तो जमनालालजी ने अंगुली से इशारा किया कि जानकीदेवी प्रार्थना कर रही हैं। इसपर सरदार बोले, "यह बेचारी तो यह प्रार्थना करती है कि इस जन्म में यह निखट्टू पति मिला तो मिला, अगले जन्म में न मिले।" सबको बहुत हँसी आई। इसी प्रकार जब क्रिप्स-मिशन हिन्दुस्तान आया था तो उससे बहुत आशाएं थीं। वह हिन्दुस्तान के मुख्य-मुख्य राजनैतिक दलों से मिला। कांग्रेस से मिलना तो सबसे ज्यादा जरूरी था ही। इस समय मौलाना आजाद कांग्रेस के सभापति थे। मौलाना आजाद क्रिप्स-मिशन से मिलने गये, तो कांग्रेस वर्किंग कमेटी के प्रमुख लोग, जो उस समय दिल्ली में उपस्थित थे, मौलाना की प्रतीक्षा कर रहे थे। मौलाना जब लौटकर आये तो उनसे पूछा, "मौलाना क्या खबर लाये?" मौलाना ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "खबर तसल्ली-बख्श है।" सरदार बोले, "मौलाना, हमने रहीमबख्श भी सुना, खुदा-बख्श भी सुना, हनुमानबख्श भी सुना, यह तसल्लीबख्श कौन है?"

४ : शालीन मौलाना आजाद

सन् १९२० की बात है। पहली अगस्त को गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन की योजना देश के सामने रखी और उसपर विचार करने के लिए सितम्बर में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। उस समय देश में एक ऐसी हवा चल रही थी, जिसमें स्वतंत्रता के लिए तड़प थी और लोग कुछ कर गुजरने के लिए आतुर थे। मौलाना शौकत अली और मोहम्मद अली जेल से बाहर आये थे और उनका बहुत प्रभाव था। इस कांग्रेस अधिवेशन में क्या होगा, इसपर सारे देश की आंख लगी थी। इसी अधिवेशन में एक नौजवान मुसलमान आया, जिसके साथ तीस-चालीस आदमी होंगे और उसकी वेशभूषा अजीब-सी लग रही थी। दो आदमी उसके पीछे उसका कंधों पर लटका हुआ कपड़ा लिये हुए चल रहे थे और सिर पर एक विचित्र तरह की पगड़ी थी, जिसके दोनों ओर कानों तक कुछ लगा हुआ था। निहायत सुन्दर, गौरवर्ण, तेजस्वी तथा आंखों में गहरी चमक, मुंह पर छोटी-छोटी दाढ़ी-मूंछ। बहुत ही गम्भीर चाल से यह व्यक्ति मंच पर आकर बैठा। मैंने पूछा, "यह कौन हैं ?" पता लगा कि ये मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब हैं और मुसलमानों के बहुत बड़े मौलाना हैं। उनके मुरीदों की संख्या हजारों है और अरबी, फारसी के बहुत बड़े विद्वान हैं।

मौलाना को पहले-पहल मैंने इसी रूप में जाना और पहचाना। आज लगभग ५० वर्ष के पश्चात् भी वह सूरत, वह रूप, मन से विसरता नहीं। पता लगाने पर मालूम हुआ कि मौलाना को भारत सरकार ने खतरनाक आदमी समझकर भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत रांची में बहुत वर्षों तक नजरबंद कर दिया था। स्वभावत: उन दिनों ऐसे आदमियों पर गहरी श्रद्धा जगती थी। सभी जानते हैं, इस कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ और देश में एक प्रचण्ड आंदोलन चला, जिसमें इच्छा-अनिच्छा सभी लोगों को योगदान करना पड़ा और

जो विरोधी लोग थे वे भी चार महीने बाद नागपुर-कांग्रेस में आंदोलन के समर्थक हो गये। कलकत्ता-कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव तो पास हुआ, पर बड़े नेताओं में से किसीने उसका समर्थन नहीं किया। लेकिन चार महीने बाद नागपुर-कांग्रेस में यह प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से पास हुआ और देशबन्धु चित्तरंजन दास, लाला लाजपतराय आदि बड़े नेताओं ने आंदोलन का समर्थन किया। इस आंदोलन का लम्बा इतिहास है। कहना यह है कि मौलाना अबुल कलाम आजाद की तकरीरों ने इस आंदोलन में जान फूंक दी थी। मुझे इन्हीं दिनों मौलानासाहब की तकरीर सुनने का मौका मिला और ऐसा मन बन गया कि मौलाना की तकरीर कहीं भी हो, सुने बिना न रहता। मौलाना जेल चले गये और कुछ ही दिनों के बाद गांधीजी ने चौरी-चौरा के कारण आंदोलन को स्थगित कर दिया।

जेल से मुक्त होने के बाद आहिस्ते-आहिस्ते मौलानासाहब से परिचय बढ़ने लगा और वह इतने सुसंस्कृत और सुलझे हुए विचारों के आदमी लगे कि उनके प्रति एक विशेष आदर का भाव सदा के लिए बन गया। मौलाना के पिता भी बंगाल के बहुत बड़े मौलाना थे। हर साल उनके मकबरे पर मेला लगता था और लाखों मुसलमान उस मेले में जाते थे। कलकत्ता में ईद की नमाज सदा मौलाना आजाद साहब ही पढ़ाते थे। बाद में मुस्लिम लीग का जोर बहुत बढ़ जाने के कारण कुछ मुसलमानों ने कहा कि हम मौलाना से नमाज नहीं पढ़ेंगे, लेकिन मौलाना के साथ नमाज पढ़नेवालों की संख्या बहुत बड़ी थी, तब कलकत्ता के मोनुमेंट मैदान में दो जगह नमाज पढ़ने की व्यवस्था की गई। मौलाना को यह मालूम हुआ तो उन्होंने नमाज पढ़ना अस्वीकार कर दिया और कहा कि खुदा की इबादत में मैं सियासत नहीं घुसेड़ना चाहता और नमाज पढ़ाने नहीं आऊंगा। बहुतकहने-सुनने पर भी वह नहीं गये। मौलाना के मुरीदों की संख्या बहुत बड़ी थी। वे मौलाना को भेंट के रूप में बहुत-कुछ देते थे, जो शायद साल में बहुत बड़ी राशि हो जाती थी। मौलाना ने बहुत दिन पहले ही इसे लेना नामंजूर कर दिया और मुरीदों से कहा कि तुम खुदा को माननेवाले लोग इंसान को क्यों भेंट

देते हो। इस तरह मौलाना धार्मिक क्रांतिकारी भी थे, जिसका गलत लाभ मुस्लिम लीग ने उठाया।

मौलाना बहुत छोटी उम्र में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मेम्बर चुने गये और जीवन-पर्यन्त रहे। वह केवल मेम्बर ही नहीं रहे, कांग्रेस और देश के एक विशेष नेता भी रहे। फैजपुर-कांग्रेस के खुले अधिवेशन में बापूजी शरीक नहीं हुए थे। अधिवेशन समाप्त होने के बाद जब हम लोग लौटे तो बापूजी ने पूछा कि कौन कैसा बोला। कुछ नाम बताने के बाद जमनालालजी ने कहा कि मौलाना बहुत अच्छा बोले। बापूजी ने कहा कि मौलाना तो सदा ही अच्छा बोलते हैं और उनके विचार बहुत सुलझे हुए हैं। इस प्रकार मौलाना के व्यक्तित्व की बापूजी के मन पर एक छाप थी और वह उनके सुझाये विचारों पर गंभीरता से सोचा करते थे।

सन् १९४५ में चुनाव हो रहा था। उस समय का एक उदाहरण है कि नेशनलिस्ट मुसलमानों को जिताने के लिए कांग्रेस संसदीय बोर्ड बहुत खर्च कर रहा था। मुझे बंगाल बोर्ड का कोषाध्यक्ष बनाया गया था। संयोग ऐसा हुआ कि मैंने ८४००० रुपये बैंक से मंगाये और सुबह के अखबारों में खबर आई कि हाजर-पांचसौ-सौ के नोट कैंसिल कर दिये गए। मुझे बड़ी चिन्ता हुई कि इन रुपयों का कैसे-क्या करें। मौलाना उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। मैं उनके पास गया और कहा कि यह स्थिति है, क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा, "मेरे नाम से बैंक में जमा कर दो। मेरा हिसाब पार्क स्ट्रीट स्टेट बैंक की ब्रांच में है।" रुपया बैंक में जमा करने के लिए जो फार्म था, उसमें पेशे का खाना भरना था। मैंने मौलाना से कहा, "आपका पेशा तो देशभक्ति है, वह लिख दें। आपके पास और कोई सम्पत्ति या व्यापार तो है नहीं। वह बोले, "नहीं, यह गलत होगा। मैं कुछ लिखकर कमाता हूं, इसलिए देश-भक्ति कैसे लिखा जा सकता है! अदीब (लेखक) लिखो।"

स्वाधीनता के पहले मौलाना का निवास-स्थान कलकत्ता ही था, इसलिए उनके सम्पर्क में आने का, नजदीक से उन्हें देखने का, काफी मौका मिला। जहांतक मैं जानता हूं, मौलाना बहुत अध्ययनशील आदमी थे।

वह सुबह जल्दी उठ जाते थे और तीन-चार घंटे अकेले लिखने-पढ़ने का काम करते थे। उनका घरेलू पुस्तकालय भी मैंने देखा, जिसमें अरबी, फारसी और उर्दू की किताबों की संख्या बहुत बड़ी थी और वे कितनी ही अलमारियों में लगी हुई थीं। मैंने कई बार देखा कि राजनैतिक झंझावात में फंसे हुए रहने पर भी वह अपने सेक्रेटरी श्री अजमल खां साहब के साथ साहित्यिक चर्चा कर रहे हैं और दुनिया में अरबी पर लिखे हुए लेखों और पुस्तकों पर बहस-मुबाहिसा कर रहे हैं। मैं विशेष कुछ समझा नहीं तो अजमल खां साहब से एकदिन पूछा। उन्होंने कहा कि अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी आदि में जो कुछ पत्रों, किताबों में निकलता है उसपर मौलाना मौका मिलते ही चर्चा करना पसन्द करते हैं। आज इसी प्रकार की चर्चा हम लोग कर रहे थे।

मौलाना स्वभाव से रईस थे, अमीर थे, लेकिन वह अपने मातहतों और दोस्तों के साथ इस तरह रहते और मिलते थे कि वे उन्हें अपना ही अनुभव करें। उनके घर के नौकर-चाकरों को देखकर ऐसा लगता था कि वे बहुत ही खुश हैं। मौलाना बहुत कम उम्र में दिल्ली में विशेष कांग्रेस के सभापति बने थे, पर १६४० में रामगढ़-कांग्रेस के सभापति बने तो देश की स्वाधीनता-प्राप्ति तक रहे। उनके सभापति काल में ही देश स्वाधीन हुआ। यह गौरव उन्हें प्राप्त हुआ! दुःख है कि पाकिस्तान के घोर विरोधी होते हुए भी उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा और यह घटना भी उनके सभापतित्व काल में ही हुई।

मौलाना का सारा जीवन एक विशेष प्रकार का जीवन था, जो अनेक घटनाओं, अनेक उतार-चढ़ावों और बहुत बड़ी घाटियों और मंजिलों से गुजरा। स्वाधीनता के पहले भी वह देश के एक महान् नेता और देश और कांग्रेस के बड़े-से-बड़े लोगों में रहे और स्वाधीनता के बाद भी देश के शासन-संचालन में उनका बहुत बड़ा स्थान रहा।

अहमदनगर के किले में जब वह कैद थे तब उनकी बेगमसाहिबा बहुत बीमार हुईं। उन्होंने सरकार से दरख्वास्त नहीं की कि मुझे उनको देखने की इजाजत दी जाय। बेगमसाहिबा ने सोचा कि शायद मौलाना

को सरकार मिलने की अपने-आप इजाजत देगी और वह चाहती रहीं कि अन्तिम समय में मौलाना को देख सकूं। मौलाना इस वात को जानते थे। वेगमसाहिवा वार-वार पूछती रहीं कि क्या मौलाना आये, क्या मौलाना आये ? अन्त में उनको जव मालूम हुआ कि मौलाना नही आ सकेंगे तव उन्होंने इत्र दिया और कहा कि मौलाना जव भी आयें तव मेरी ओर से यह इत्र उन्हें भेंट करना और कहना कि नमाज पढ़ते समय इसको लगा लें। यह वड़ा ही करुण प्रसंग है, पर ऐसे सदमों से देश-सेवा करने वालों को गुजरना पड़ता है।

५ : अमर सेनानी सुभाषचंद्र बोस

आज के लोग सुभाषचन्द्र वोस को 'नेताजी' के नाम से जानते हैं और इसी नाम से पुकारते हैं। यह नाम उनको भारत से वाहर जाने और आजाद हिन्द फौज का संगठन करने पर दिया गया और यह नाम उनके जीवन का अन्तिम नाम भी है। यह नाम प्रभावशाली और शक्तिशाली भी है, तव भी उनकी उम्र के लोग या उनसे कुछ वड़े और उनके पुराने साथियों का प्यारा नाम सुभाष या सुभाषवावू ही है। और इस नाम के साथ कितनी वातें जुड़ी हुई हैं—सुभाषवावू के त्याग की, वीरता की, देश-भक्ति की, संगठन-शक्ति की, साथियों के प्रति सहृदयता की, प्रेम की, आदर की, जिन्हें उनके साथी या उनके साथ काम करनेवाले कभी भूलते नहीं।

सुभाषवावू का वचपन और उनकी धार्मिक वृत्ति उनके पत्रों में, जो उन्होंने अपनी मां के नाम तथा वंधु-बांधवों के नाम लिखे हैं, बहुत गहराई से प्रकट होती है। शायद उनकी इस धार्मिक वृत्ति ने ही आगे जाकर देश-भक्ति का रूप धारण किया, खासकर बंगाल में जितने क्रातिकारी हुए उनके जीवन में धार्मिकता का प्रभाव रहा। यहां धर्म के बारे में

कुछ नहीं कहना है। अन्धा धर्म तो कभी किसी काम का नहीं रहा।

सुभाषवावू पढ़ने-लिखने में सदा वहुत तेज थे और सभी परीक्षाओं में उन्होंने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की। आई० सी० एस० की परीक्षा देने का मन न होने पर भी और किसी सरकारी नौकरी की इच्छा न होने पर भी उन्होंने वह परीक्षा दे दी, जवकि उनको वहुत थोड़े दिन पढ़ने का मौका मिला। उन्होंने परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। लेकिन उनका निर्माण सरकारी नौकरी करने के लिए हुआ ही नहीं था। उन दिनों आई० सी० एस० परीक्षा पास करना और सरकारी नौकरियों में जाना वहुत गौरवपूर्ण माना जाता था। शायद उनके पिताजी भी उनसे यही आशा रखते थे। उनके पिता जानकीनाथ वोस कटक के नामी वकील थे और वोस-परिवार वंगाल में वहुत प्रसिद्ध परिवार था। सुभाषवावू के सभी भाई अपने-अपने कामों में वहुत योग्य और सफल रहे हैं। सुभाषवावू के वड़े भाई श्री शरत्चन्द्र बोस ने तो इंग्लैंड में पढ़ते समय ही सुभाषवावू की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली थी। सुभाषवावू के स्वभाव, विचार और कामों के प्रति एक प्रकार का प्रेम-भरा आदर उनके मन में पैदा हो गया था, जो हमेशा वढ़ता ही गया। सुभाषवावू से वह इतने प्रभावित थे कि वह लाखों रुपयों की वैरिस्टरी की आय छोड़कर जेल की यातनाएं भोगते रहे और सुभाषवावू का साथ देते रहे। मुझे सौभाग्य से दोनों भाइयों को देखने और उनके साथ काम करने का अवसर मिला। सुभाषवावू के बारे में सोचते समय शरत्वावू सहज रूप से मेरे सामने आ जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि सुभाषवावू का त्याग और तप, उनकी देशभक्ति और वीरत्व अदभुत है, पर शरत्वावू का वरद्हस्त या एक प्रकार का भरोसा, आश्वासन, जो कह लीजिए, वह सदा सुभाषवावू को मिलता रहा और शरतवावू की लाखों रुपयों की आय हरदम सुभाषवावू के लिए न्योछावर होती रही। इसका कारण सुभाषवावू की देश-सेवा ही है, जो शरतवावू को प्रभावित करती रही। सवसे बड़ी वात तो यह थी शरतवावू की पत्नी विभावती देवी इस में सुभाषवावू और शरत्वावू की सवसे बड़ी सहायक रहीं।

सुभाषवावू के आई० सी० एस० पास करके इंग्लैण्ड से लौटने के

कुछ ही दिन वाद देश में असहयोग का आन्दोलन आरम्भ हो गया। देशवन्धु चित्तरंजन दास और पंडित मोतीलाल नेहरू अपनी लाखों रुपयों की आमदनी छोड़कर इस आन्दोलन में शरीक हुए और इस आन्दोलन में गांधीजी के वाद उनका ही स्थान था। देशवंधु चित्तरंजन दास ने इस आन्दोलन को वंगाल में वहुत वड़ा रूप दिया। सुभाषचन्द्र वोस भी कार्यकर्त्ता के रूप में चित्तरंजन दास के कृपाभाजन वने और आन्दोलन में हिस्सा लेने लगे। इसके पहले से ही वंगाल के क्रान्तिकारियों से उनका सम्वन्ध और सहयोग था ही। चितरंजन दास के साथ काम करते हुए वह उनके इतने नजदीक आ गये कि वह उनको अपंना पुत्र जैसा ही मानने लगे।

सन् १९२३ में कलकत्ता कारपोरेशन का नया विधान वना और चित्तरंजन दास उसके प्रथम मेयर वने तो उन्होंने सुभाषवावू को ही एक्जीक्यूटिव आफिसर वनाया। इस पद पर सुभाषवावू को जो वेतन मिलता था, वह प्रायः सव-का-सव देश के क्रांतिकारियों की सहायता में दे देते। क्रान्तिकारियों से उनका संवंध दिनोंदिन वढ़ता जा रहा था, जिससे कुछ ही दिनों वाद वह गिरफ्तार हो गये और उनको मांडले जेल भेज दिया गया, जहां वह वहुत दिनों तक निर्वासित रहे। इसी वीच देशवंधु का स्वर्गवास हो गया। सुभाषवावू जेल से छूटे तव वंगाल का नेतृत्व एक प्रकार से जे० एम० सेनगुप्त के हाथ में था। सुभाषवावू आते ही अपने काम में जुट गये। उनका व्यक्तित्व, प्रतिभा और संगठन-शक्ति तो वहुत वड़ी थी ही, देश उनको प्यार भी करता था। वह निहायत सुन्दर, गौरवर्ण और प्रभावशाली व्यक्ति थे। सन् १९२८ में कलकत्ते में कांग्रेस होनेवाली थी। पंडित मोतीलाल नेहरू इस कांग्रेस के सभापति थे। सुभाषवावू कांग्रेस के स्वयंसेवकों के 'जनरल आफ कमान्ड' वनाये गये थे। 'ज० आ० क०' की वर्दी में स्वयसेवकों की रैली में जव वह शरीक हुए तव वह कितने सुन्दर और प्रभावशाली लगतेथे, उसको जिन्होंने देखा है, वही जानते हैं। और आज वहुत वरसों वाद भी आजाद हिन्द फौज के नेताजी की शक्ल 'ज०आ०क०' की याद दिलाती है। उन दिनों किसीने कल्पना भी नहीं की थी कि

यही उनका अंतिम वेश होगा। सुभाषबाबू से मेरा पहला परिचय इसी समय हुआ और आहिस्ते-आहिस्ते वह बहुत घना बनता गया।

कांग्रेस के साथ राष्ट्रभाषा सम्मेलन भी हुआ करता था। इस साल राष्ट्रभाषा सम्मेलन के सभापति के लिए हमने सुभाषबाबू से प्रार्थना की और उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। सभापति-पद से उन्होंने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए जो भाषण दिया वह आज उपलब्ध नहीं हो रहा है, पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी के सिवा कोई अन्य भाषा नहीं हो सकती और हर प्रांत के लोगों को हिंदी सीखनी चाहिए। सुभाषबाबू का हिन्दी-प्रेम प्रख्यात है। इसका एकाध उदाहरण मैं आगे दूंगा। इस कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता के विचार पर काफी संघर्ष हुआ था। पंडित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषबाबू इसी कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव करना चाहते थे और गांधीजी और पंडित मोतीलालजी आदि नेता अंग्रेजों को कुछ और समय देना चाहते थे। सर्वदल सम्मेलन में, जिसके सभापति पंडित मोतीलालजी ही थे, औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव पास हुआ था। लेकिन बहुत संघर्ष के बाद रात में करीब १०-११ बजे विषय निर्वाचिनी समिति में सर्व-सम्मत प्रस्ताव रखा गया कि एक वर्ष के भीतर यदि सरकार औपनि-वेशिक स्वराज्य की हमारी मांग स्वीकार न करे, तो अगली कांग्रेस में हम पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव करने के लिए स्वतंत्र होंगे। पंडित जवाहरलाल ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। सुभाषबाबू ने भी इसको स्वीकार तो किया, पर एक प्रकार के असंतोष के साथ, क्योंकि वह अपने विचारों में सदा उग्र रहे।

सुभाषबाबू आंदोलन में लगे रहे और सरकार की कड़ी निगाह उनके ऊपर बनी रही। लाहौर-कांग्रेस में जब पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास हुआ तो उनको बहुत ही प्रसन्नता हुई और वह अन्दोलन करने लगे। फलस्वरूप सरकार ने उनपर मुकदमा चलाया और नमक सत्या-ग्रह के पहले ही उन्हें जेल भेज दिया।

सन् १९३० की ६ अप्रैल को राष्ट्रीय सप्ताह के प्रथम दिन गांधी-जी ने डांडी में नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह किया। देश के बहुत-से

लोग जेलों में गये। महिलाएं भी बहुत बड़ी संख्या में जेल गईं। सुभाषबाबू तो पहले से ही जेल में थे। दुर्भाग्य से इसके पहले जे० एम० सेनगुप्ता तथा सुभाषबाबू के बीच मतभेद चलने लग गया था। सुभाषबाबू जेल में रहने के कारण आंदोलन में प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सके, लेकिन शायद अक्तूबर के महीने में सुभाषबाबू जेल से मुक्त हुए, उस समय देश के सभी नेता जेलों में थे। सुभाषबाबू के बाहर आने से एक नये उत्साह की लहर दौड़ गई और खासकर बंगाल में फिर जोरों से काम होने लगा।

सन् १९३१ की २६ जनवरी को कानून तोड़कर कलकत्ता के मौनुमेंट मैदान में स्वाधीनता का झंडा फहराया गया। उस दिन के सत्याग्रह की बात सारे भारत में बंगाल की अपनी शान की बात है। सरकार ने आंदोलन के मुख्य-मुख्य नेताओं को पहले से ही गिरफ्तार कर लिया था। सुभाषबाबू कारपोरेशन के मेयर थे, इसलिए वह एक-दो दिन पहले से ही मेयर के कमरे में जाकर बैठ गये। उन्हें गिरफतार नहीं किया जा सका और ऐन वक्त पर वह जलूस के साथ मोनुमेंट पर झंडा फहराने के लिए निकले और बाद में यह जलूस बहुत ही बड़ा हो गया।

इस जलूस पर भयंकर लाठी चार्ज हुआ। सुभाषबाबू को गिरफ्तार करते समय तथा लाठी चार्ज में उनके हाथ की उंगली टूट गई। सैकड़ों आदमी घायल हो गये, बहुत बड़ी संख्या में लोग गिरफ्तार हुए। पुलिस के लाठी चार्ज और घुड़सवारों के प्रहार के बीच जाकर महिलाओं ने मोनुमेंट पर राष्ट्रीय झंडा फहरा दिया और सैकड़ों की संख्या में गिरफ्तार हुईं। इस प्रकार वह स्वाधीनता-दिवस अपने ढंग का अपूर्व, अनोखा था। पं०मोतीलाल, जोको उन दिनों बहुत बीमार थे और कांग्रेस के डिक्टेटर भी थे, जब बंगाल के इस दिवस की खबरें मिलीं तो वह बहुत प्रसन्न हुए, कारण दिवस की योजना उनके परामर्श से बनाई गई थी। वह उस समय कलकत्ते में इलाज करा रहे थे। यह सब सुभाषबाबू के नेतृत्व और लोक-प्रियता के कारण सम्भव हो सका। इसके बाद बहुत शीघ्र ही गांधी-इर्विन-समझौता हो गया और उसके अनुसार सत्याग्रह के सारे कैदी छोड़ दिये गए। सुभाषबाबू भी जेल से बाहर आ

गये। अब यह सवाल पैदा हुआ कि सुभाषबाबू गांधी-इर्विन-समझौते को स्वीकार करते हैं या उसका विरोध करते हैं। सारा देश सुभाष की ओर देख रहा था।

उस समय बंगाल कांग्रेस की दो पार्टियों में सेन गुप्त की पार्टी तो समझौते का समर्थन करती ही थी, इसलिए तथा सुभाषबाबू का जो रवैया रहा था, उससे लोगों ने ऐसा माना कि शायद सुभाषबाबू समझौते का विरोध करेंगे। यह एक लम्बा किस्सा है और इसके भीतर बहुत बातें हैं।

सुभाषबाबू कांग्रेस की विषय-निर्वाचनी समिति में बोलने को खड़े हुए तबतक कोई यह नहीं जानता था कि सुभाषबाबू समझौते का समर्थन करेंगे, पर उन्होंने व्यक्तिगत रूप से समझौते का विरोध करते हुए भी जब यह कहा कि देश की एक आवाज हो, कांग्रेस का एक निश्चय हो और गोलमेज परिषद में हमारे एक प्रतिनिधि गांधीजी ही हों और उनकी आवाज ही कांग्रेस की आवाज मानी जाय, तो सारा पंडाल तालियों से गूंज उठा और लोग चकित हो गये, खासकर जो लोग भीतर-भीतर समझौते के विरोधी थे और किसीके नेतृत्व की खोज कर रहे थे, वे सब निराश हो गये और सर्वसम्मति से समझौते का प्रस्ताव पास हुआ। सेनगुप्त तथा उनकी पार्टी के लोग बड़े निराश हुए, क्योंकि वे यह मानते और दिखाना चाहते थे कि बंगाल में वे लोग ही गांधीजी के तथा कांग्रेस के समर्थक हैं और नगण्य-सा जो विरोध है, उसपर वे विजय प्राप्त कर सकते हैं। सुभाषबाबू ने समझौते का समर्थन करके ये सब बातें व्यर्थ कर दीं। इस कांग्रेस के सभापति वल्लभभाई पटेल थे। जब वर्किंग कमेटी का चुनाव हुआ तो वर्किंग कमेटी में उन्होंने सुभाषबाबू को न लेकर सेनगुप्त को ही लिया। इससे इस समझौते के भीतर जो लोग थे, जिन्होंने इस बात का प्रयत्न किया था कि सुभाषबाबू गांधीजी का समर्थन करें, जो सुभाषबाबू को वर्किंग कमेटी में भी देखना चाहते थे, उनको बड़ी निराशा और दुःख हुआ, सुभाषबाबू भी इससे संतुष्ट तो नहीं थे। जो हो, सच कहा जाय तो सुभाषबाबू के साथ तो इस तरह का व्यवहार चाहे किसी कारण से हो, बराबर होता रहा।

यह लम्बा प्रकरण है और इसकी बहुत-सी बातें हैं, पर इतना तो निःसंदेह कहा जा सकता है कि सुभाषबाबू में किसीसे कम देश-भक्ति नहीं थी और उनका त्याग, उनकी योग्यता उनकी कर्म-शक्ति भी किसी से कम न थी। उनको हरिपुरा-कांग्रेस का सभापति बनाया गया। कांग्रेस के करांची-अधिवेशन और हरिपुरा के बीच सात वर्ष का फर्क है। इस दौरान सुभाषबाबू का अधिकतर समय जेलों में और विदेश में बीमारी का इलाज कराने में बीता।

सुभाषबाबू के हिन्दी-प्रेम की एक बात यहां लिखना आवश्यक है। सुभाषबाबू हिन्दी लिख-पढ़ सकते थे, बोल सकते थे, पर वह इसमें बराबर हिचकते और कमी महसूस करते। वह चाहते थे कि हिन्दी में वह हिन्दीभाषी लोगों की तरह ही सब काम कर सकें। एक दिन उन्होंने कहा कि यदि देश में जनता के साथ राजनीति करनी है, तो उसका माध्यम हिन्दी ही हो सकती है। बंगाल के बाहर मैं जनता में जाऊं तो किस भाषा में बोलूं ? इसलिए कांग्रेस का सभापति बनकर मैं हिन्दी खूब अच्छी न जानूं तो काम नहीं चलेगा। तुम एक मास्टर मुझे दो, जो मेरे साथ रहे और मेरा हिन्दी का सारा काम कर दे तथा जब मैं चाहूं और मुझे समय मिले तब मैं उससे हिन्दी सीखता रहूं। श्री जगदीशनारायणजी तिवारी को, जो मूक कांग्रेसकर्मी थे और हिन्दी के अच्छे शिक्षक थे, सुभाषबाबू के साथ रखा गया। हरिपुरा-कांग्रेस में तथा सभापति के दौरे के समय वह बराबर सुभाषबाबू के साथ रहे और बड़ी लगन से सुभाषबाबू ने हिन्दी सीखी और वह सचमुच बहुत अच्छी हिन्दी लिखने, पढ़ने और बोलने लगे। आजाद हिंद फौज का काम और सुभाषबाबू की वक्तृताएं प्रायः हिन्दी में ही होती रहीं। यह सुभाषबाबू का एक ऐसा काम था, जो देश के लिए उचित है, और जिससे देश का सच्चे अर्थों में लाभ हो सकता है। सुभाषबाबू के जीवन की अनेक घटनाएं हैं, जिनको बहुत नजदीक से देखने का मौका मुझे मिला है। उन सबपर इस छोटे-से लेख में प्रकाश डालना सम्भव नहीं हो सकता। यह कहा जा सकता है कि वह इस देश के एक बहुत ही प्रभावशाली सच्चे नेता थे।

दुःख इस बात का है कि वह गांधीजी को राजी नहीं कर सके।

जो लोग राजनीति के भीतर की वात जानते हैं, उन्हें पता है कि सुभाष-वावू को गांधीजी कितना प्यार करते थे और वह भी गांधीजी को कितना मानते थे। पर सुभाषवावू कभी किसीके आगे समर्पण नहीं कर सके। वह 'अकेला चलो' के मूर्त्त रूप थे और अपने मन की वात करने के लिए उन्होंने कितना दुःख और कष्ट सहा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। वह पुलिस के पहरे के वीच से गायव होकर देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत के वाहर चले गये। कितना कष्ट, कितना हैरानी, कितनी जोखिम ली उन्होंने अपनी मान्यताओं के लिए और किस प्रकार का संगठन किया आजाद हिन्द फौज का वाहर जाकर ! देश की स्वाधीनता के लिए इस वहादुर आदमी ने क्या नहीं किया; कौन से ऐसे कष्ट थे, जो उन्होंने नहीं सहे; कौन-सी ऐसी जोखिम थी जो उन्होंने देश के लिए नहीं उठाई। होश संभालने के पहले दिन से तरुणाई की सारी हविस, घर का सारा सुख, मां, भाई, वहनों का सारा दुलार, सारी आशाएं, सारा सुख, सारा आराम, सवकुछ छोड़कर जीवनपर्यंत इस तरुण तपस्वी ने देश-विदेश की खाक छानी, नाना प्रकार की यातनाएं सहीं और मान-अपमान भी सहा। मुझे ऐसा लगता है कि सुभाषवावू का नाम, नेताजी का नाम, शायद देश के सव सेनानियों से अधिक दिन जीवित रहेगा।

६ : धुन के धनी राममनोहर लोहिया

डाक्टर लोहिया की मृत्यु से देश की राजनीति से स्वतंत्रता-संग्राम की जीवंत कड़ी टूट गई। स्वतंत्रता-संग्राम के बड़े योद्धा एक के वाद एक जा रहे हैं। केन्द्र के आज के कई वड़े वजीरों का स्वतंत्रता-संग्राम में हिस्सा रहा है, पर वे अग्रणी योद्धाओं में न थे। इसलिए आज एक पुराने आदमी को डा० लोहिया की मृत्यु से जो दुःख हुआ है, वह आज

की नई राजनीतिवाले व्यक्ति के दुःख से भिन्न हैं। पुराना आदमी डा० लोहिया को, स्वतंत्रता-संग्राम के आदर्शों को, नई राजनीति में प्रतिष्ठित करनेवाले अग्रणी नेता के रूप में देखता है, जबकि नया आदमी उन्हें जड़मूल से क्रांति पैदा करनेवाला मानता है। इन दोनों धारणाओं में साम्य है, क्योंकि स्वतंत्रता-संग्राम की लड़ाई को गांधीजी ने केवल अंग्रेज से लड़ने तक ही सीमित नहीं रखा था, उनका उद्देश्य भारतीय जीवन की जड़ता को भी समाप्त करना था।

स्वतंत्र होने के बाद अंग्रेज से लड़ाई की बात खत्म हो गई, पर जड़ता की बात बनी रही। इस जड़ता को खत्म करने और भारतीय जीवन को चलायमान करने के लिए डाक्टर लोहिया ने देश को बुनियादी समस्याओं के प्रति जागरूक किया। उनके तरीकों से मेरे जैसे लोग अपने खास किस्म के संस्कारों की वजह से पूरी तरह एकात्म नहीं हो सकते थे, पर उनके आदर्शों में गांधीजी की जो भनक मिलती थी, उसे नजरंदाज भी नहीं कर सकते थे। इसीलिए मेरे जैसे लोगों का डा०लोहिया के प्रति रुख दूर से ही मुग्ध या आकर्षित होने का था। आज जब वह इतनी कम उमर में चले गये, तब यह आकर्षण और भी प्रबल हो उठता है और मन में गहरा अवसाद उमड़ता है कि एक ऐसा व्यक्ति, जो देश को स्वधर्म की ओर बढ़ा सकता था, चला गया।

गांधीजी ने एक बार कहा था—जवाहरलाल चाहता है कि अंग्रेज चले जायं, पर अंग्रेजियत रहे, लेकिन मैं चाहता हूं कि अंग्रेज रहें और अंग्रेजियत चली जाय। आजादी के बाद रह-रहकर लगता है कि स्वतंत्रता का क्या यही अर्थ था कि अंग्रेजों के जाने के बाद हम उनके जैसे बन जायं। अंग्रेजियत और अंग्रेजी के प्रति मोह की भी एक हद हो सकती थी!

अंग्रेजियत और विदेशी सहायता के माहौल में डा० लोहिया ने स्वदेशी भाषा के सवाल को उसी परिप्रेक्ष्य में रखा, जिसमें गांधीजी ने रखा था। इस मामले में वह गांधीजी से एक कदम आगे ही रहे, क्योंकि गांधीजी का दृष्टिकोण कहीं संत-महात्मा का भी होता था, जबकि लोहिया का दृष्टिकोण व्यावहारिक आदर्शवादी का था। डाक्टर लोहिया

ने भाषा को जिन्दगी से जोड़ा, इसीलिए हिन्दी साहित्य में आगे जाकर वह उत्कृष्ट गद्य लेखकों में भी गिने जायंगे। हिन्दी के नये लेखकों पर डाक्टर लोहिया की भाषा का असर दीखने लगा है।

डा० लोहिया का भाषा-संबंधी दृष्टिकोण उनके चिंतनशील व्यक्तित्व की खोज और उपज था। हमारे यहां समाजवादी और साम्यवादी विदेशी पोथियों और सिद्धांतों से इतने आक्रांत रहते हैं कि वे हमारे देश के अनुरूप सोच नहीं पाते। डा० लोहिया ने हिंदी से कहीं ज्यादा जर्मन और अंग्रेजी पढ़ी होगी। लेकिन उन्होंने इस पठन के दौरान हमारी जिन्दगी से विदेशी भाषाओं की दूरियों को नापा और जाना कि हमारे लिए ज्ञान और विकास अपनी ही भाषा से संभव है। भाषा के बारे में उन्होंने हमारे विचारों में गहरा परिवर्तन किया है। आज शायद अंग्रेजी-प्रेमियों के शोर-शराबे और देश की भ्रष्ट राजनैतिक स्वार्थपरता की वजह से भाषा का सवाल पेचीदा क्यों न हो जाय, पर स्थिति एक दिन स्पष्ट होकर रहेगी। अंग्रेजी के समर्थन की तरह-तरह की बातें आज वैसी ही लगती हैं जैसी कि 'होमरूल' और 'डोमिनियन स्टेटस' आदि की बातें पहले लगा करती थीं। लगता है, अभी भी हमारे देश में गुलामी की गहरी तलछट रह गई है। एक दिन हिन्दुस्तान ने पूरी आजादी का संकल्प किया था और एक दिन वह निश्चय ही पूर्ण रूप से अपनी भाषा को स्थापित करने का भी संकल्प करेगा। आज अंग्रेजी के हिमायती डाक्टर लोहिया की भाषा-संबंधी मान्यताओं को चुनौती देने में असमर्थ हैं और वे उसपर पीछे से तथा बगल से प्रहार करते हैं, जनसंघ की साम्प्रदायिकता तथा देश में फूट का हौवा खड़ा करके। पर डा० लोहिया की हिन्दी-भक्ति और जनसंघ की हिन्दी-भक्ति का फर्क वैसा ही है, जैसा कि कृष्ण की मूर्ति के प्रति मीरा की भक्ति में और चढ़ावा पानेवाले पुजारी की भक्ति में है।

यह एक मजे की बात है कि भक्ति के मामले में डा० लोहिया के व्यक्तित्व में सगुण और निर्गुण दोनों बातें मिलती हैं। उनका औघड़ जीवन निर्गुण था, जबकि राजनीति सगुण। औघड़ जीवन उन्होंने पिता श्री हीरालालजी से वसीयत में पाया था। हीरालालजी का राष्ट्रीय

आन्दोलन में वड़ा हिस्सा रहा। नमक-सत्याग्रह के समय धरासणा के नमक-धावे में उनकी सक्रिय भूमिका थी। हीरालालजी जैसे निस्पृह और औघड़ व्यक्तियों को तो हमारा समाज अनायास ही कभी मौके-वेमौके याद करता है, पर उनके जैसे ही लोगों के वूते पर आजादी की यह इमारत खड़ी है।

१९४२ से पहले डा० लोहिया की देश की राजनीति में भूमिका पृष्ठभूमि में रही। १९४२ में वह केवल वत्तीस वर्ष के ही थे, पर इससे पहले कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के भीतर वह आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण और मेहरअली जैसे लोगों के साथ स्वातंत्र्य आंदोलन को तर्कसंगत, वुद्धिवादी और वैज्ञानिक आधार प्रदान करने की चेष्टा में जुटे रहे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विदेश विभाग के वह सचिव वने। उन दिनों की याद आने पर लगता है कि घोर साधनहीनता के वावजूद कांग्रेस का विदेश विभाग आज के हमारे विदेश मन्त्रालय से कहीं अधिक सक्रिय और जागरूक था। १९४२ की लड़ाई के दौरान डा० लोहिया की भूमिका चिंतक और वुद्धिवादी के अलावा कर्मवीर की भी थी। चिंतन से कर्म की ओर उनका रुझान वढ़ता ही गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि १९४८ की वाद की राजनीति में उनके जैसा सक्रिय नेता विरला ही हुआ है। देश के वुद्धिजीवियों और चिंतकों के लिए डा० लोहिया का जीवन अनुकरणीय है, क्योंकि हमारे देश में कर्म के विना चिंतन एकदम अर्थहीन और निःसार है। लगता है, देश में आज भ्रष्टाचार, आदर्शहीनता और मूल्यहीनता का जो वोलवाला है, उसमें राजनीति किसी दिशा में नहीं चल पा रही है। वह गड़वड़ाती हुई चलती है और ऐसा लगता है कि वह हमें गर्त में ले जायगी। विदेशी सिद्धांतों के किताबी आधार पर हमने इन वर्षों में जो किया, उसका नतीजा आज सामने है। ऐसे में डा० लोहिया देश को दिशा प्रदान कर रहे थे। अगर हम उस दिशा में चले, तो इतिहास में उनका क्या स्थान होगा, यह कहने की जरूरत नहीं।

संस्कृति और साहित्य की विभूतियां

१ : साधु वैज्ञानिक प्रफुल्लचंद्र राय

पिछली सदी ने हमें अनेक महापुरुष दिये। हर दिशा में देश के हर प्रांत में अनेक ऐसे लोग पैदा हुए जिनकी तुलना सहज ही दूसरों से नहीं की जा सकती। बंगाल में तो विज्ञान, शिक्षा, साहित्य, कला, इतिहास, न्याय, कानून आदि अनेक विषयों में विशेष-विशेष लोग पैदा हुए। इन विशेष लोगों में से कई की शताब्दियां हमने मनाई हैं और आगे मनाई जायंगी। इन्हीं महापुरुषों में आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का नाम विशेष भाव से लिया जा सकता है। आचार्य पी० सी० राय ने विज्ञान में बहुत बड़ा काम किया, यही उनकी विशेषताए नहीं है। वह बहुत बड़े वैज्ञानिक तो थे ही, विज्ञान की उन्होंने बहुत बड़ी सेवा की है, इस सर्वमान्य बात के अलावा वह एक साधु पुरुष थे, देश-सेवक थे, बहुत बड़े शिक्षाविद थे। वह सरल, सादे, सच्चे, निरभिमानी और भोले स्वभाव के आदमी थे। जिन लोगों ने उन्हें नजदीक से देखा है, वे जानते हैं कि उनका बच्चों जैसा स्वभाव था। उन्होंने जो कमाया, उसका इतना कम हिस्सा अपने लिए खर्च किया कि देश का साधारण-से-साधारण आदमी भी उससे कुछ ज्यादा ही करता होगा। मैंने सुना है कि वह अपने लिए केवल पच्चीस रुपये महीना लेते थे, बाकी सब-का-सब विद्यार्थियों और देश के काम में लगाते रहे। उन्होंने कभी अच्छे कपड़े नहीं पहने, गाड़ी, मोटर आदि कोई वाहन अपने लिए नहीं रखा, यहांतक कि बहुत वृद्ध हो जाने पर अपनी सेवा या अपने खुद के काम के लिए कोई नौकर नहीं रखा।

इसका एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। वह काफी वृद्ध हो गये थे। आंखों से कम दिखाई देने लगा था और रात में थोड़ी घबराहट-सी भी होती थी। उनके पास कोई आदमी था नहीं, विवाह उन्होंने किया ही नहीं था। उनके अनेक शिष्य थे, जिन्होंने विज्ञान की शिक्षा उनके चरणों में बैठकर प्राप्त की थी। उनमें से कई तो बहुत बड़े-बड़े लोग भी थे। श्री सतीशचन्द्रदास गुप्त उनके बहुत प्रिय शिष्यों में थे। सतीशबाबू के त्याग, तप और काम के बारे में कहा या लिखा जाय तो वह एक बहुत बड़ा लेख या पुस्तक हो सकती है, पर यहां तो केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि बंगाल में गांधीजी के सबसे बड़े अनुयायी वही हैं। श्री सतीश-बाबू से उन्होंने कहा, "सतीश, आमा के एकटी लोक दावो जे रात्री ते आमार काछे थाकते पारे।[1]

सतीशबाबू ने एक अपना परखा हुआ आदमी उनके पास भेज दिया। वह आदमी रात में उनके पास सोया। सुबह उठे तो उस आदमी से कहा, "तुम जाओ।" उसने बड़ी नम्रता से कहा कि सतीशबाबू ने मुझे आपकी सेवा करने को भेजा है, तो कहने लगे, "दिने तो आमार किछु कष्टों नाई दिने तोमाके केनो राखवों।"[2]

इसी प्रकार एक दिन मैं जमनालालजी को लेकर उनके पास गया तो नारियल की रस्सी की खाट पर दरी बिछाकर सोये हुए थे। तीन कुरसियां पड़ी थीं, जिनमें एक काठ की थी, दो लोहे की। वह कुरसियां बहुत ही घटिया थीं। जमनालालजी का हाथ पकड़कर कहने लगे, "तुमी ओई काठेर चेयरे ते बोसो एई आमार ड्राइंग रूम।"[3] मुझे तो हाथ पकड़कर अपनी उस खाट पर ही बैठा लिया और कहा, "तुमी तो घरेर लोग एखाने बोसो[4] फिर एक कोने में स्टोव पड़ा था। कहने लगे, 'एइ आमार किचन।"[5]

---

१. सतीश, मुझे एक ऐसा आदमी दो, जो रात को भी पास रह सके।
२. दिन में तो मुझे कोई कष्ट नहीं, सो मैं दिन में तुम्हें क्यों रखूं ?
३. तुम काठ की कुर्सी पर बैठो, यही मेरा ड्राइंग रूम है। ४. तुम तो घर के ही आदमी हो। ५. यही मेरा रसोईघर है।

सन् १६२८ की बात है। नागपुर विश्वविद्यालय ने उनको दीक्षांत भाषण देने के लिए बुलाया था। वह यहां गये तो उनको मालूम हुआ कि गांधीजी वर्धा में हैं। उन्होंने गांधीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की और बापूजी ने उनको बुला लिया। संयोग से मैं भी वहीं था। सुना आचार्य राय वहां आनेवाले हैं, तो जमनालालजी के साथ बापूजी के पास चला गया। बापूजी तो नीचे जमीन पर एक छोटी-सी गद्दी पर बैठते थे, उसपर ही बैठे रहे। लेकिन आचार्य राय के लिए एक चौकी अपने पास रखवाई, तो जमनालालजी ने पूछा, यह क्यों रखवाते हैं? बापूजी हँसे और बोले कि आचार्य राय तो सम्मानीय हैं न, उनको ऊंचा बैठाना चाहिए, पर वह बात करते समय इतने भावमय हो जाते हैं कि सामनेवाले के शरीर पर हाथ मारकर बात करने लगते हैं। आचार्य राय आये, बापूजी ने खड़े होकर उनका स्वागत किया और उस चौकी पर उनको बैठाया। बातचीत होने लगी, तो वही हुआ जो बापूजी ने कहा था। आचार्य राय ने जब अपना हाथ मारने के लिए बापूजी की तरफ किया तो बापूजी ने कहा कि आप चाहें जितना हाथ मेरी ओर करें, वह मेरे तक पहुंच नहीं पायगा। इसका इन्तजाम मैंने पहले से आपको चौकी पर बैठाकर कर लिया है और चौकी को इतनी दूर रखा है कि आपका हाथ मुझतक नहीं पहुंच पावे। आचार्य राय बहुत हँसे और बापूजी तो मुक्त हँसी हँसने के आचार्य ही थे। बड़ा अच्छा विनोद रहा। इसी प्रकार की अनेक घटनाएं हैं। एक मीटिंग का हम लोगों ने उनको सभापति बनाया। मैंने कहा, "मैं आपको लेने के लिए गाड़ी लेकर आ जाऊंगा।" बोले, "आमी कि जमाई जाके गाड़ी पठाते होय निए जेते होय।"[1]
फिर बोले, "आमार एकटी बन्धु बिकाले आमार जोने गाडी पाठाय ओई गाडी ते आमी समय मोतो नीजे ही एसे जावो।"[2]

इसी प्रकार एक दिन उनसे मैंने और स्वर्गीय भाई बसंतलाल

१. क्या मैं जमाई हूं जिसके लिए गाड़ी भेजने की जरूरत होती है!
२. मेरा एक दोस्त शाम को मेरे लिए गाड़ी भेजता है, उसी गाड़ी में मैं समय पर अपने-आप आजाऊंगा।

मुरारका ने कुछ बातें करने के लिए समय मांगा तो बोले कि, रेड रोड स्टेच्यू पर मैं शाम को सात बजे एक बन्धु की घोड़ा-गाड़ी में जाता हूं, वहां आ जाओ। हम लोग गये। एक खादी का दुपट्टा, जो वह रखते थे, उसको बिछाकर लेटे हुए मिले। एक-दो आदमी पास बैठे थे। आचार्य राय के कपड़े साधारण होते थे। एक खादी की धोती, जो घुटनों से बहुत थोड़ी-सी ही नीची रहती और एक खादी का कोट और एक दुपट्टा या चादर, जो कह लीजिये। ये तीनों कपड़े सदा एक-से नहीं रहते थे। दुपट्टा धोया हुआ है, तो धोती मैली है, धोती साफ है, तो कोट मैला है। शायद ही सब कपड़े वे एक साथ कभी बदलते थे। उनको कपड़ों का या अन्य ऐसी बातों का ख्याल नहीं रहता था। दाढ़ी अपने-आप कैंची से काट लेते थे। नाई को शायद ही कभी बुलाते। रंग उनका हमारे राजेन्द्रबाबू जैसा था। लम्बे तो थे, पर दुबले-पतले थे। डाढ़ी रखते थे, पर बहुत छोटी और बेतरतीब। सिर के बाल वैसे ही, सफेदी में कुछ काली लिये हुए, यानी उनको देखकर कोई भी आदमी कल्पना नहीं कर सकता कि यह आदमी आचार्य पी० सी० राय हैं।

एक बार हम लोगों ने उनसे हावड़ा में एक पुस्तकालय का उद्घाटन कराया तो उन्होंने अपने व्याख्यान में कहा—मैं पुस्तकालय की उपयोगिता को जानता हूं, इसलिए पुस्तकालय का उद्घाटन करने आ गया। आज जो 'नेशनल लाइब्रेरी' है, उसका नाम उन दिनों 'इम्पीरियल लाइब्रेरी' था। कहने लगे कि इस लाइब्रेरी की ओर से यदि यह इनाम घोषित किया जाय कि इसकी सबसे अधिक किताबें पढ़नेवाले को प्रथम पुरस्कार दिया जायगा तो वह मुझे मिलेगा। मैं वर्षों से इस लाइब्रेरी की पुस्तकों का बहुत बड़ा स्थायी पाठक रहा हूं। इसलिए मुझे मालूम है कि पुस्तकालय कितना उपयोगी है और उससे कितने लोग कितना ज्ञान बढ़ा सकते है। वे इतने भोले थे कि कुछ कहते नहीं बनता। एक दिन की बात है मैं और भाई वसंतलालजी उनके पास गये। वह साइंस कालेज की सीढ़ियों पर मिल गये। कहीं बाहर जा रहे थे। प्रणाम किया। हम लोगों के साथ-साथ कुछ लड़कियां भी सीढ़ियों पर चल रहीं थीं। रुक गये और उन लड़कियों की ओर हाथ करके याने

उनके हाथ को पकड़कर कहने लगे, "आजकल कार मेयरा छेले चायना"[१] और भी कुछ कहा। लड़कियां हँसने लगीं। वह इतने निर्दोष थे कि वह क्या कहते हैं, इसका कोई आदमी बुरा नहीं मानता था। एक वार कहने लगे कि लोग कहते हैं कि मैं मारवाड़ियों का विरोधी हूं। मैं कहता हूं कि मैं मारवाड़ियों का प्रशंसक हूं। बंगालियों से कहता हूं कि तुम इनके जैसे वनो, नहीं तो इनके सामने वच नहीं सकोगे। एक बंगाली नौजवान पास ही खड़ा था। उसके पेट में हाथ का घूंसा-जैसा मारकर कहने लगे कि इसका पेट खाली है। यह भरना नहीं जानता। यह बचेगा नहीं। इसको एक हजार रुपया उधार दे दिया जाय और कह दिया जाय कि इस रुपये से व्यापार करो और कमाओ तो जानते हो यह क्या करेगा? दो कप चाय पीता था तो चार पीने लगेगा। इसके पास दो-चार दोस्त हैं, तो दस पांच आने लगेंगे। एक खवर का कागज पढ़ता था, दो पढ़ने लगेगा। जवतक वे रुपये रहेंगे, इसका ऐसा ही चलेगा। तुमको एक हजार रुपया दे दिया जाय और कह दिया जाय कि इन रुपयों से व्यापार करो तो तुम शाम को हिसाव करके देखोगे कि एक हजार एक हैं कि नौ सौ निन्यानवे। यदि नो सौ निन्यानवे है, तो तुम रात में अच्छी रोटी नहीं खाओगे। दूसरे दिन से अधिक परिश्रम करने और अधिक वचाने की कोशिश करोगे, जिससे वे रुपये नौ सो निन्यानवे न हों, एक हजार एक हों। मैं इस कंगाल भूखे बंगाली से कहता हूं कि तुम इस मारवाड़ी से वचो और इसका अनुकरण करो। तुम्हारी जातिवाले कहते है कि मैं मारवाड़ी का विरोधी हूं। इसी प्रकार की अनेक वातें मौके-मौके पर उनसे हो जातीं। सारी वातें प्राय: व्यक्तिगत ही हैं और ऐसे संस्मरण व्यक्तिगत ही होते हैं।

सन् १९३६ की वात है। मेरी लड़की का विवाह था। मेरी इच्छा थी कि आचार्य राय उसमें अवश्य आयें और सबसे पहला आशीर्वाद लड़के-लड़की को वह दें। उनसे ऐसा कहने में संकोच होता था। वह वृद्ध तो थे ही, साथ ही ऐसे कामों में कम जाते थे। मैंने सतीशबाबू से कहा कि आप

---

१. आजकल की लड़कियां लड़के नहीं चाहतीं।

मेरी ओर से उचित समझें तो कहें। उन्होंने कहा और वह खुशी-खुशी आये। उनको ही सबसे पहले लड़की-लड़के ने प्रणाम किया, तो उन्होंने जो आशीर्वाद दिया वह अपने-आपमें इतना महान है कि आज भी वह दृश्य और वे वाक्य मैं भूल नहीं पाता। उन्होंने सिर पर हाथ रखकर दो वाक्य कहे—"धर्मे थाको, सुखे थाको।"[१]

आचार्य राय अपने जीवन में स्वदेशी भावना और परदुःखकातरता के मूर्तिमान स्वरूप थे। उन्होंने अनुभव किया कि देश में सभी चीजें परदेश से आती हैं, उनके स्थान परदेश की बनी चीजें काम में लाई जायं। एक वैज्ञानिक के नाते पहली प्रतिक्रिया विदेशी दवाओं के बारे में हुई। इसलिए उन्होंने बंगाल केमिकल की स्थापना की। शायद बंगाल केमिकल भारत में दवाओं तथा केमिकल का सबसे पुराना प्रतिष्ठान है। इसके अलावा वह प्रत्येक भारतीय वस्तु के प्रचार-प्रसार का प्रयत्न करते थे। दुर्भाग्य से बंगाल बाढ़ का क्रीड़ा-स्थल रहा है। यहां बाढ़ और अकाल अनेक बार आते हैं। मुझे जहांतक याद है, आचार्य राय के जीवन में ऐसा एक भी मौका नहीं आया जबकि अकाल और बाढ़ के समय उन्होंने बड़ा-से-बड़ा संगठन करके लाखों रुपयों के सामान से सहायता न की हो। ऐसा हो गया था कि बहुत-से गलत लोग भी आचार्य राय का चित्र तथा उनके नाम की अपील लेकर बाढ़ और अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए रास्तों में खड़े हो जाते थे। एक बार की बात है कि श्री घनश्यामदासजी बिड़ला आफिस से बाहर जा रहे थे। रास्ते में आचार्य राय के नाम से लोग गाना गाते हुए अकाल के लिए चन्दा मांग रहे थे। श्री घनश्यामदासजी की गाड़ी के पास वे आये तो उन्होंने सोचा कि इनको क्या दें, पाकेट में रुपये नहीं थे। अपनी घड़ी खोलकर उनको दे दी। दूसरे दिन रु० १००१ के साथ एक पत्र लिखा कि कल शाम को आपकी ओर से चन्दा मांगनेवाले लोग मुझे रास्ते के मोड़ पर मिले। मैंने अपनी घड़ी उनको दे दी। यह एक हजार रुपये भेज रहा हूं। वह घड़ी भिजवा दीजिए। आचार्य राय ने लिखा कि मैंने तो कोई ऐसे लोग नहीं भेजे हैं, जो रास्ते

१. धर्म में रहो, सुख से रहो।

में चन्दा मांगे और मैं इस बात का सार्वजनिक रूप से खण्डन भी कर रहा हूं। इस प्रकार आचार्य राय का नाम ही संकट-त्राण हो गया था।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय से मानवता सुन्दर होती थीं, उनकी सेवाएं और उनकी देन तथा सबसे बड़ी उनकी सरलता, साधुता, हर आदमी को पवित्रता की ओर ले जाती थी।

२ : प्रो० कर्वे-दम्पति

प्रोफेसर कर्वे के दर्शनों की तथा उनका आश्रम और कालेज देखने की मेरी कई वर्षों से इच्छा थी। इस बार (१९३८ में) पूना जाने का मौका मिला, तो वहां पहुंचते ही मैं सबसे पहले अपनी लड़की पन्ना के साथ उनके दर्शनोंके लिए गया। पूना से चार-पांच मील पर हिंगणे नामक गांव में सन् १९०० ई० में कर्वेजी ने इस आश्रम की स्थापना की थी। उस समय जिस छोटी-सी कच्ची झोंपड़ी में इसकी स्थापना हुई थी वह भी हम लोगों ने देखी। आज तो इस स्थान पर एक विशाल भवन, कई बोर्डिंग-हाउस, बालिकाओं के खेलने के लिए बहुत बड़ा उद्यान तथा सभा-हाल आदि कई आकर्षक इमारतें तथा नाना तरह की दूसरी चीजें बनी हुई हैं। जिस समय यह प्रयत्न शुरू किया गया था, उस समय चारों ओर अन्धकार था और उसमें प्रकाश फैलाना बहुत ही दुष्कर कार्य था; लेकिन महापुरुषों की तपश्चर्या का फल बिना हुए नहीं रहता। साधारण लोग तो चीज का स्थूल रूप सामने आने पर ही उसे पहचानते हैं; परन्तु त्यागी और सच्चा काम करनेवाला आदमी किस इच्छा और भावना के साथ काम शुरू करता है, उसमें किस लगन के साथ जुट जाता है और मुसीबतें उठाता हुआ किस तरह उस चीज को अपने लक्ष्य तक ले जाता है तथा किस तरह मुसीबतों और विघ्न-बाधाओं के समय भी अपने मन में कल्पना द्वारा सुखद और सुन्दर स्वप्न देखा करता है, इसको

वही जानता है। छोटे-से बीज के अन्दर जिस तरह एक वट वृक्ष और सारे फल समाये हुए रहते हैं, उसी तरह उस तपस्वी कर्मयोगी के मन में ये चीजें समाई हुई रहती हैं। वह अपनी कल्पनाओं द्वारा छोटे-से बीज में बड़े-से वृक्ष की शीतल छाया और सुन्दर फल देखा करता है और उसमें सुखी रहता है। अपनी कल्पनाओं द्वारा आकाश में विचरण करता हुआ वह बल प्राप्त करता है और उसी बल से वह अपने मार्ग की कठिनाइयों को धैर्यपूर्वक सहता हुआ अपने लक्ष्य-स्थान पर जा पहुंचता है।

स्वर्गीय लाला देवराजजी की तरह श्री कर्वेजी को भी बहुत-से विरोधों का सामना करना पड़ा है। कितनी कठिनाइयां आईं, लेकिन ये लोग अपनी आशा और श्रद्धा के बल पर साहस और धैर्यपूर्वक डटे रहे और उसीके फलस्वरूप आज जालन्धर और पूना में संस्थाओं के रूप में मातृ-जाति उन्नति के लिए दो महान् अनुष्ठान खड़े कर दिये हैं। जिस तरह बंगाल में सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाकर राजाराममोहन राय और विधवा-विवाह के बारे में कानून बनाकर पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने मातृ-जाति का बहुत बड़ा उपकार किया और आज मातृ-जाति के भक्तों के उपास्य देव बन गये हैं, उसी तरह, बल्कि उससे भी अधिक पंजाब के लाला देवराजजी और महाराष्ट्र के कर्वे महाराज प्रत्येक मातृ-सेवक के उपास्य देव बने हुए हैं।

हिंगणे का आश्रम हम लोगों ने देखा। हमें वह बहुत ही अच्छा लगा। उसका पूरा विवरण लिखने के लिए बहुत समय और स्थान चाहिए। हमें तो यहां कर्वे महाराज के दर्शन का ही संस्मरण लिखना है, इसलिए उसे छोड़ देते हैं। वहां से महिला-कालेज में आये, जो हिंगणे जाते समय रास्ते में ही पड़ता है। यहीं कर्वे-दम्पति रहते हैं। हमें उनके दर्शनों की बड़ी तीव्र इच्छा थी। इसलिए कालेज के अहाते में प्रवेश करते ही हमने यह जानने की कोशिश की कि वे कहां है। कालेज तो बन्द था, लेकिन वहां के चपरासी ने हमें इशारे से बताया कि वह उस जगह हैं। चपरासी के बताये हुए छोटे-से टीन के घर के पास पहुंचे, तो सामने ही एक बहुत सादी-सी बूढ़ी स्त्री, जिसके सब बाल सफेद हो गये

थे, कमर झुक गई थी, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गईं थी, बैठी मिली। हमने अनुमान से समझ लिया कि ये श्रीमती कर्वे होंगी। हमारा अनुमान सच निकला। हमारे प्रणाम करने पर उन्होंने मराठी में पूछा—कहिए, क्या काम हैं ? हम लोगों ने कर्वे महाराज के दर्शन की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने कहा कि वे सोये हैं। तुम लोग एक-दो मिनट ठहरो, मैं उन्हें जगाती हूं। जब हमने कहा कि नहीं माताजी, उन्हें जगाइए नहीं, हम लोग थोड़ी देर ठहर जायंगे, उनको तकलीफ नहीं होनी चाहिए, तो उन्होंने बड़ी सरलता से कहा—तकलीफ किस बात की, यह तो हम लोगों का काम ही है। भीतर जाते ही उन्होंने हमें तुरन्त बुला लिया। इस घर में, जिसमें ये दम्पति निवास करते हैं, केवल दो कमरे हैं। रसोई आदि सब काम उसीमें होता है। वहांपर एक बेंत की कुर्सी, दो लोहे की पुरानी खाट, रसोई के थोड़े बर्तन और कुछ कपड़ों के सिवा हमने कुछ नहीं देखा। शायद एक-दो किताबें भी थीं। खाटों पर जो कपड़े बिछे हुए थे, वे पांच-सात वर्ष पहले के बनाये हुए जरूर होंगे। शायद इससे भी ज्यादा पहले के हों। कर्वे महाराज एक खाट पर बैठे थे। बहुत दुबले, नाटे कद के, इतने सरल और सीधे हैं कि अपने-आपको तो कुछ भी नहीं समझते, यानी पूरे-पूरे निरभिमानी हैं। ऐसे महापुरुष को तथा इनके रहन-सहन को देखकर हम चकित-से हो गये और हमारा हृदय और मन बार-बार इनके चरणों पर झुकने लगा। मन में कल्पना हुई कि इतना सादा और इतना सरल कोई दूसरा महापुरुष भी हमने देखा है या नहीं ? तो बंगाल के आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय याद आये। कुछ देर तक उनसे बात होती रही। हिंगणे के आश्रम के बारे में, महिला-कालेज के बारे में तथा वहां की शिक्षा के बारे में बातें हुईं। इतने में माताजी ने पन्ना और मेरी छोटी बच्ची विजय को कुंकुम लगाया और हम सब को नारियल के खोपड़े का चूरा चीनी मिलाया हुआ प्रसाद दिया। न मालूम श्रद्धा का कारण था या उन पवित्र हाथों की खास बात थी, यह प्रसाद हमें इतना स्वादिष्ट लगा कि कुछ कहते नहीं बनता।

कर्वे महाराज ने कहा कि कालेज तो बन्द हैं और सब लोग बाहर चले गये हैं, पर तुम लोगों को यहां की सब चीजें दिखाता हूं। मैंने कहा

कि महाराज, आप कष्ट न करें तो वे ही शब्द, जो माताजी ने कहे थे, फिर निकले कि तकलीफ किस बात की, यह तो हमारा काम है। इन अस्सी वर्ष के बूढ़े दम्पति का उत्साह, इनकी सेवा का संकल्प कितना दीर्घ, कितना महान् तथा कितना शिक्षाप्रद है। कर्वे महाराज उठे और अपनी चप्पल पहनी, जो कम-से-कम चार-पांच जगह सिलायी की हुई थी, न मालूम वह कितने दिनों से चल रही है। मैं यह सब बातें सच लिख रहा हूं, इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है। इस दम्पति ने सच-मुच में महात्मा गांधी के दरिद्र-नारायण की पूजा करना सीखा है। सब साधनों का जोगाड़ करते हुए एक महान् संस्था का निर्माण करते हुए कितना सादा और कितना सरल जीवन यापन करने का व्रत ले रखा है। उनके साथ महिला-कालेज देखने गये। प्रत्येक चीज उन्होंने दिखाई तथा समझाई। कालेज की बातों का विवरण हम यहां नहीं देंगे। हमारा उद्देश्य तो कर्वे महाराज के दर्शन का वर्णन करना है।

वहां से लौटने के बाद फिर उस टीन के घर में आकर हम लोग बैठे, तो माताजी ने कहा कि मुझे बाहर जाना है, क्या तुम लोगों के साथ चल सकती हूं ? हम लोगों को तो गुड़ में गोविन्द मिल गये। कर्वे महाराज को प्रणाम करके माताजी के साथ वहां से विदा हुए और रास्ते में उनसे बातें होती रहीं। माताजी ने कहा कि मैंने आज से चालीस वर्ष पहले नर्सिंग पास किया था और नर्स का काम करती थी। मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप और कर्वे महाराज एक बार कलकत्ता आयें तो उन्होंने कहा कि हम लोगों के पास पैसे कहां है ? मैंने अपनी मूर्खता से कह दिया कि इसका प्रबन्ध तो हम लोग कर लेंगे, तो उन्होंने कहा कि हम तो दूसरों का पैसा संस्था के लिए ही लेते हैं। इस प्रकार यह यात्रा समाप्त हुई। इस महान अवसर की स्मृति मन पर सदा अंकित रहेगी।

३ : विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

गुरुदेव के प्रथम दर्शन

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन मैं सन् १९३४ के पहले न कर सका। सन् १९३४ की ६ अक्तूवर को वनारसीदासजी चतुर्वेदी के साथ मारवाड़ी वालिका विद्यालय की कुछ लड़कियों और अध्यापिकाओं को लेकर गुरुदेव के दर्शनों को गया और ७ तारीख को गुरुदेव के दर्शन हुए। गुरुदेव के प्रथम दर्शन से, वातचीत से, मेरे दिल पर जो प्रभाव पड़ा, वह उस दिन की डायरी से यहां दे रहा हूं :

शान्तिनिकेतन की अन्य चीजें देखने के वाद ३ वजे वनारसीदासजी और लड़कियां तथा मैं गुरुदेव के कमरे में ले जाये गए। जिस कमरे में गुरुदेव वैठे थे, उसकी दीवारों पर गुरुदेव के हाथ के वनाये हुए चित्र अंकित थे। फर्श से चार-पांच फुट ऊंचे तक शीतलपट्टी काठ के फ्रेम में लगी हुई थी। गुरुदेव जिस आसन पर वैठे थे, उसपर हाथ की कारीगरी का काम किया हुआ था और सामने सुन्दर फूलों का गुलदस्ता था। जितनी चीजें वहां थीं, वे सव-की-सव कला की द्योतक थीं। गुरुदेव रेशमी कुर्ता पहने, दूध की तरह सफेद वाल और सुन्दर चेहरा, वड़ी-वड़ी आंखें, विशद ललाट और लम्वी सफेद दाढ़ी—ऐसी उस सौम्य मूर्ति को देखकर किसी प्राचीन ऋषि का स्वाभाविक रूप से स्मरण हो आता था।

हम लोगों ने चरण छूकर गुरुदेव को प्रणाम किया। उन्होंने प्रेम-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा—"वोसुन।" उनकी दृष्टि में आकर्षण था और स्वर में माधुर्य। कुशल-समाचार पूछने के वाद शांतिनिकेतन के वारे में कहने लगे—"यह संस्था ही मेरा जीवन है, मेरा सवकुछ यही है। इसकी उन्नति के लिए मैं जीता हूं। मैंने अपना सवकुछ शांतिनिकेतन को दे दिया। नोवेल पुरस्कार के रुपये शांतिनिकेतन को दिये। मेरी पुस्तकों से जो आय होती है, वह शांतिनिकेतन की ही है। जमींदारी की आय का वहुत-सा हिस्सा भी शांतिनिकेतन में चला जाता है। आजकल जमींदारी की आय कम हो गई है। पुस्तकों की आय भी कम होने लगी

है; इसीलिए शांतिनिकेतन पर कर्ज हो गया है। इस संस्था के वोझ से मैं दवा जा रहा हूं। जो हो, मुझे यह बोझ लेकर चलना है। मैं मद्रास जा रहा हूं। इस तिहत्तर वर्ष की उम्र में मैं वाहर नहीं जाना चाहता। आज मुझमें न तो शक्ति है और न इच्छा है कि नाच-गान की पार्टी लेकर फिरूं। पर क्या करूं? शांतिनिकेतन के लिए धन चाहिए। देशवासी मुझे यहां बैठे-बैठे धन नहीं देते। वे मेरा नाच-गान और कविता सुनना चाहते हैं। मैं वही करूंगा। शांतिनिकेतन पर सत्तर हजार का कर्ज है। उस कर्ज को चुकाना चाहता हूं। मैं शांतिनिकेतन, विश्वभारती को वंगाल की नहीं, भारतवर्ष की नहीं, संसार की संस्था मानता हूं और चाहता हूं कि यह संस्था संसार के तमाम लोगों की संस्कृति का आदर करे और भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करे। यहांपर सभी संस्कृतियों और भाषाओं के विद्वान रहें और अपनी-अपनी संस्कृतियों का अन्वेषण और उन्नति करें। आज से कई वर्ष पूर्व यहां हिंदी की पढ़ाई शुरू की गई थी। इसके लिए हमें मद्रास से सहायता मिला करती थी। उसके वन्द होने पर श्री शिवप्रसाद गुप्त छःसौ रुपये साल सहायता दिया करते थे। आजकल वह भी वंद है। पर मैं हिन्दी की पढ़ाई कैसे वन्द कर सकता हूं? हिन्दी के अच्छे विद्वान हजारीप्रसादजी द्विवेदी हमें मिल गये हैं। उनको में कैसे छोड़ सकता हूं? यहां हिन्दी के लिए अच्छी से-अच्छी व्यवस्था हो, हिन्दी की स्थायी सीट हो, एक हिन्दी-भवन हो और सुन्दर पुस्तकालय हो। तुम्हारी जाति धनी है। यदि ठीक समझो और कर सकते हो, तो इस काम को करना।"

कवि के हृदय में दर्द था, वेदना थी और था हिन्दी के लिए प्रेम। फिर वह लड़कियों को सम्वोधन कर कहने लगे—"तुम तो जननी हो। तुम्हारे हृदय में प्रेम, दया और सेवा भरी हुई है। तुम्हारे लिए सभी अपने हैं। तुम किसीकी बुराई नहीं कर सकतीं। तुम सवको प्यार करती हो, भेद-भाव-रहित सेवा करती हो, क्योंकि तुम जननी हो।" कवि ने और भी वहुत-कुछ कहा। पर मैं तो उनकी भावना और स्वर-लालित्य में अपनेको इतना खो चुका था कि कुछ पता ही नहीं चला।

इतना वड़ा महापुरुष, जिसने हमारे इस गिरे हुए देश का स्थान

संसार में ऊंचा किया, जिसकी लिखी पुस्तकों का, कविताओं का संसार के बड़े-बड़े विद्वान आदर करते हैं, जिसकी वाणी सुनने के लिए अमेरिका आदि देशों के लोग भी लालायित रहते हैं, वह इतनी बड़ी संस्था के लिए रुपये मांगता भटकता फिरे, क्या यह हम लोगों के लिए लज्जा की बात नहीं है ? इच्छा हुई और दर्द भी हुआ कि गुरुदेव के शांतिनिकेतन का आर्थिक संकट किस तरह कटे। सोचा, अपनी सामर्थ्य ही कितनी ? एक छोटी-सी भेंट गुरुदेव के चरणों पर रखने की बात बनारसीदासजी से कही और उन्होंने गुरुदेव से कहा। वह तो कवि थे, हृदय के भाव को जानते थे, पहचानते थे। उनके सामने वस्तु का मूल्य नहीं, भावना का मूल्य था। कहा, "बहुत अच्छा।" यहांतक कि उसी समय से मुझ जैसे साधारण आदमी को वह कभी भूले नहीं। अपने परिवार का जैसा सम्बन्ध मानने लगे। जब वह धन-संग्रह के लिए निकले और उनका पहला व्याख्यान पटना में हुआ, तब उस सभा में मेरी उस छोटी-सी भेंट का जिक्र तक किया।

वह बहुत ही भावुक थे। मेरे दिल पर भी इस बात का गहरा असर रहा कि शांतिनिकेतन का ऋण कैसे चुकाया जाय। मैंने एक बड़े धनी सज्जन से जिक्र किया कि इतना बड़ा आदमी पैसा मांगने के लिए भटके, यह ठीक नहीं। हम लोगों को इन्हें एक अच्छी रकम देनी चाहिए। सभी जानते हैं, बाद में तो पूज्य गांधीजी की प्रेरणा से शांतिनिकेतन का सम्पूर्ण ऋण चुका दिया गया। गुरुदेव बहुत जल्द ही इस यात्रा से वापस आ गये। एक ही स्थान पर यात्रा पूर्ण हो गई। गुरुदेव के मन पर भी इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। एक दिन बात करते हुए कहने लगे—"देशवासियों ने मुझे चाहा तो तिरासी या छियासी वर्ष तक मैं जी सकता हूं।" मैंने कहा, "गुरुदेव, देशवासी तो चाहते हैं कि आप बराबर हमारे बीच रहें।" उन्होंने कहा, "मुझे उत्साह मिलना चाहिए न ?" इसके बाद तो कई बार शांतिनिकेतन जाने का, गुरुदेव के दर्शन करने का, मौका मिलता रहा।

गुरुदेव कलकत्ता आते, तब कभी-कभी कुछ लोगों को बुलाकर अपनी कविता सुनाया करते। एक छोटा-सा साहित्यिक समारोह-सा होता। एक

बार ऐसे समारोह में शामिल होने के लिए गुरुदेव के सेक्रेटरी ने फोन किया। शाम को मैं, भाई भागीरथजी मेरी पुत्री पन्ना उसमें गये। एक हाल में पचास-साठ स्त्री-पुरुष। धूपवत्तियां जल रही थीं। पिलसौत में चिराग जल रहे थे और गुलाव आदि फूलों से गुरुदेव के वैठने के समीप का स्थान सजा हुआ था। निहायत सुन्दर, सात्विक और कलापूर्ण वातावरण था। गुरुदेव आये। लोगों ने खड़े होकर उनको नमस्कार किया। वहनों ने आरती उतारी। एक पीढ़े पर गुरुदेव विराजे। हल्के रंग की खादी का कुर्त्ता पहने वह कितने सुन्दर लगते थे! वह बूढ़े थे, कमर झुक गई थी, तो भी देखने में सुन्दर मालूम होते थे और उनका रौव सम्राटों जैसा था। पांच-सात मिनट आवभगत की वातें करने के वाद गुरुदेव ने पूछा—"कहो, कौन-सी कविता सुनना चाहते हो?" उपस्थित लोगों ने उनकी पुस्तकों में से, जो ढेर-की-ढेर सामने रखी थीं, कहा—"अमुक, अमुक।" पहले उन्होंने थोड़ी देर गद्यकाव्य सुनाया, वाद में कविताएं। एक के बाद एक कविता का नाम लोग वोलते रहे और वह सुनाते रहे। इस प्रकार पौने दो घंटे विना सहारे पीढ़े पर बैठे वह अपनी स्वरचित कविता सुनाते रहे। एक असीम आनन्द-सागर उमड़ रहा था। लोग सुध-बुध खोये-से उस सागर की हिलोर का आनन्द ले रहे थे। सुननेवालों का मन ही नहीं भरता था और सुनानेवाले की बात तो प्रभु ही जानें। वह तो आया ही इसीलिए था। उसकी तो साधना ही साहित्य और कला थी। एक सज्जन ने कहा, "गुरुदेव, गीत सुनाइए। उन्होंने कहा, "अब गाता नहीं।" वहनें हठ करने लगीं, "गुरुदेव, जरूर सुनाइए। आप तो वहुत अच्छा गाते हैं न?" वह वोले, "किसी समय अच्छा गाता था, अब नहीं।" फिर भी उन्होंने गीत सुनाया। उनके मुंह के गीत का आज क्या बखान किया जाय! वह तो ऋषि की वाणी थी, सरस्वती की वीणा थी।

मेरी लड़की पन्ना का विवाह था। मैंने गुरुदेव को पत्र लिखा कि आपका आशीर्वाद चाहिए। उत्तर नहीं आया। तव मैंने उनके सेक्रेटरी को लिखा। उत्तर आया, "गुरुदेव एक कविता उस अवसर के लिए लिखकर भेज रहे हैं। ठीक समय पर लड़के और लड़की के नाम एक सुन्दर

उपदेशपूर्ण कविता उनके निज के अक्षरों में लिखी आई। मैंने गुरुदेव के अक्षर उसी दिन देखे। जैसे गुरुदेव सुन्दर थे, वैसे ही उनके अक्षर भी। वास्तव में वह सौंदर्य के पुजारी थे। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के उपासक थे।

एक दिन गुरुदेव के सेक्रेटरी का फोन आया कि गुरुदेव बुला रहे हैं। फुरसत हो, तब आ जाना। थोड़ी देर में हम लोग उनके पास पहुंचे। वह बोले, "तुमको इसलिए बुलाया था कि यह जो मकान है, वह मैंने विश्वभारती को दे दिया है। इसको भाड़े दे देना चाहिए। ठाकुर-कुटुम्ब के मकान भाड़े में नहीं दिये गए हैं। मेरे चले जाने के बाद शायद यह मकान भी भाड़े में नहीं दिया जा सकेगा। इसलिए मैं चाहता हूं कि मेरे सामने ही मकान भाड़े दे दिया जाय, जिससे विश्वभारती को कुछ आय होने लगे। मेरे पास अब कोई सम्पत्ति या चीज नहीं रह गई, जो विश्वभारती की न हो। इससे मुझे सन्तोष है।"

वह स्वयं विश्वभारती थे। वह विश्वप्रेमी थे। देश, जाति और साम्प्रदायिक भावों से ऊपर थे। बोले, "इस बगल के मकान में मैं जन्मा हूं। इसीमें खेला हूं और यहीं पर मैं मनुष्य बना (एइ बाड़ी ते आमि मानुष हये ची।) इसी मकान की छत की दीवारों पर व छत पर मैंने खड़िया से, कोयले से, पहले-पहल कविता लिखी।" उनके मन में इस बात का दुःख-सा ही था कि उनका बाहर के लोगों ने तो बहुत आदर किया, पर अपने देश के लोगों ने वैसा नहीं किया। वह विश्वभारती को अमर कर जाना चाहते थे। विश्वभारती की जिम्मेदारी किन्हीं मजबूत हाथों में देकर जाना चाहते थे। अपनी सबसे प्रिय चीज विश्वभारती के लिए उनके मन में आशंका थी कि उनके बाद विश्वभारती चल सकेगी या नहीं। अब तो उसकी सारी जिम्मेदारी देश के लोगों पर ही है। गुरुदेव तो ऊपर रहेंगे ही, पर हमारा कर्त्तव्य है कि जिस चीज को उन्होंने खून से सींचा, उसे हम मृत न होने दें।

गुरुदेव की बीमारी बढ़ती जा रही थी। शांतिनिकेतन से जो खबरें आती थीं, वे भय पैदा करतीं। इसलिए इच्छा थी कि एक बार गुरुदेव की उपस्थिति में फिर शांतिनिकेतन हो आवें। इतने में मारवाड़ी बालिका विद्यालय की लड़कियों ने कहा, "मंत्रीजी, शांतिनिकेतन दिखा लाइए।"

मैं लड़कियों को लेकर भाई भागीरथजी के साथ १७ जुलाई को शांति-निकेतन गया। गुरुदेव विस्तर पर लेटे हुए थे। उनके सेक्रेटरी ने उनके कान के पास ज़रा तेज आवाज में हम लोगों का नाम वताया, तो उन्होंने आंखें खोलीं, देखकर बोले, "भालो आछो।" गुरुदेव को करीव दो वर्ष के वाद देखा था। वह वहुत कमजोर दीखते थे। ऐसा लगता कि वप अव वहुत दिनों के मेहमान नहीं हैं। वहुत थक गये थे। सुनाई भी कम पड़ता था और होश भी कम रहने लगा था। शाम की गाड़ी से शांतिनिकेतन से रवाना होते समय मन में नाना तरह के भाव उमड़ रहे थे। क्या गुरु-देव नहीं रहेंगे ? उनके वाद क्या यही भावना, यही दृश्य, विद्वानों का और कलाप्रिय लोगों का यही जमघट रहेगा ? उनके वाद भी क्या दूर-दूर देशों के लोग शांतिनिकेतन देखने आयेंगे ? ईश्वर गुरुदेव की कृति शांति-निकेतन को चिरायु रखे, यही इच्छा मन में थी।

गुरुदेव को कलकत्ता लाया गया और उनका आपरेशन हुआ। दो-चार रोज तो हालत ठीक रही, पर वाद में विगड़ने लगी। ७ अगस्त को ९ वजे गुरुदेव के सेक्रेटरी का फोन आया कि गुरुदेव ज्यादा वीमार हैं। अव वह घंटे-दो-घंटे के ही हैं। मैं तथा भाई भागीरथजी तुरंत गुरुदेव के निवास-स्थान पर गये। मकान के आसपास हजारों आदमियों की भीड़ थी। हम भीतर गये। कलकत्ता के मुख्य-मुख्य सभी व्यक्ति उपस्थित थे। गुरुदेव की सेवा-सुश्रूषा करनेवाले भाई-वहनों की आंखों से अश्रुधारा वह रही थी। गुरुदेव को आक्सीजन दिया जा रहा था। मैंने हृदय को थामकर संसार के उस महान पुरुष को अन्तिम प्रणाम किया। उनके प्रस्थान का दुःख असह्य था। हृदय भरा आ रहा था। पर उस विश्व-विभूति के अन्त समय में दर्शन हो गये, इस वात का संतोष था।

ऐतिहासिक पुरुष

कविगुरु, गुरुदेव, विश्वकवि आदि अनेक नामों से संवोधित महा-पुरुष गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शतवार्षिकी के शुभ अवसर पर संपूर्ण भारत ही नहीं, विदेशों की अनेक संस्थाएं भी उनकी अनेक प्रकार की विशेषताओं को नाना रूपों में प्रदर्शित कर रही हैं। भारत में यह उत्सव

वर्ष-भर लगातार मनाया जा रहा है। यह सब करके हम अपने-आपको संतोष कराते हैं, गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं, साथ ही, उनके साहित्य, संगीत, कला आदि के प्रचार का यह अच्छा-सा मौका भी मिल रहा है।

गुरुदेव की प्रतिभा इतनी व्यापक, विशाल और बहुमुखी थी कि उसको पूरा-पूरा समझना, आंकना, मुश्किल ही नहीं, लगभग असंभव-सा है। उन्होंने कविता को नये छंद दिये, संगीत को नये स्वर, चित्रों को नई आकृतियां और मानव को अनेक प्रेरणाएं दीं। वह साधक, चिंतक और महान प्रेरक थे। एक बार स्वर्गीय रामानन्द चटर्जी महोदय ने एक प्रवचन में कहा था, "शांतिनिकेतन के प्रारम्भ के दिनों में मैं वहां बहुत समय तक रहा हूं। मेरा और गुरुदेव का सोने का कमरा आमने-सामने था। मैंने एक दिन भी ऐसा नहीं देखा कि वह मुझसे पहले सोकर न उठ गये हों। मैं प्रातः शीघ्र उठनेवाला रहा हूं, पर शांतिनिकेतन में मैंने देखा कि मैं जब उठता हूं तब गुरुदेव या तो बीच के दालान में प्रार्थना कर रहे, लिख रहे या घूम रहे होते हैं।

चित्रांकन उन्होंने बहुत समय बाद शुरू किया। मैं समझता हूं कि सत्तर वर्ष की उम्र के आसपास चित्रकला की ओर उनका अधिक ध्यान गया। उन्नासी वर्ष में उनका तिरोधान हुआ। इतने कम समय में उनके चित्रों की संख्या सोलहसौ अस्सी के करीब हो गई। वह विश्वभारती में सुरक्षित है। ब्रिटिश म्यूजियम ने कई लाख रुपये देकर इन्हें लेना चाहा था। इसके अलावा कितने चित्र कितने लोगों को उन्होंने दे दिये, उनकी संख्या भी कम नहीं है। एक उदाहरण दूं उनकी मानसिक स्थिति का, जब उन्होंने चित्रांकन में ही अपने-आपको लगा रखा था। वह विश्वभारती के लिए कलकत्ता आये और लगातार सात दिन तक अपने नृत्य-नाट्यों का प्रदर्शन किया। गुरुदेव स्वयं इन नृत्य-नाट्यों के समय मंच पर बैठते तथा सब स्वर,तालों और मुद्राओं का निरीक्षण करते। यह उत्सव समाप्त होने पर वह शांतिनिकेतन चले गये। पर उनका शरीर इस परिश्रम को बर्दाश्त न कर सका और वह बहुत बीमार हो गये। कलकत्ता के उस समय के सबसे बड़े चिकित्सक स्वर्गीय डा० नीलरतन सरकार, जो गुरुदेव के

प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे, शांतिनिकेतन चले गये और जवतक गुरुदेव स्वस्थ न हुए, वहीं रहे। गुरुदेव अचेत अवस्था में बहुत ही अधिक बीमार थे और सारे देश में, खासकर बंगाल में, उनकी अस्वस्थता की बड़ी चिन्ता थी। तीन-चार दिन बाद गुरुदेव की चेतना लौटी और वह बोलने लगे, तो उस अवस्था में एक बड़ा विनोद हुआ। इस स्थिति में ऐसा विनोद शायद वह ही कर सकते थे। उन्होंने होश में आते ही जब अपने मुंह पर हाथ रखा, तब उनकी बड़ी-बड़ी दाढ़ी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल रेशम से भी नरम थे, गायब थी। उन्होंने बंगला में कहा, "आमार दाढ़ी कोथाए गैलो।" डाक्टर सरकार ने बहुत ही नम्र होकर हाथ जोड़े और क्षमा मांगते हुए कहा, "गुरुदेव आमार हाते ई एई अपराध होय छे।" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "बूझे ची! जम आमाके धोरे छिलो, आमाके धोरे निए जेते लागलो, तुमी आमा के ऐदिके टेने निले। भालोई कोरेचे।" सब लोग हँसने लगे और डाक्टर सरकार तो धन्य हो गये। फिर डाक्टर सरकार ने विनयपूर्वक पूछा, "क्या लेंगे, खाने के लिए? आपकी किसी चीज पर इच्छा है?" उन्होंने कहा, "आगे आमाके तूलिका और रंग दावो। फिर तो चित्रांकन के सब उपकरण उपस्थित किये गए और सबसे पहले उन्होंने एक चित्र आंका। ज़रा सोचिए, इतनी बड़ी और लम्बी अचेतन अवस्था के बाद चेतना का उदय होते ही सबसे पहले चित्र आंकना क्या प्रकट करता है।

उन्होंने शांतिनिकेतन की स्थापना साहित्य, संगीत और कला के लिए की, पर उनको इससे संतोष नहीं हुआ। तुरन्त ग्रामीण जनता में प्रवेश करने और उसके दुःख-दर्द में सहायक होने के लिए श्रीनिकेतन की स्थापना की। श्रीनिकेतन के द्वारा वह ग्रामीण-श्री की वृद्धि करना चाहते थे। इसी प्रकार उनका सारा दृष्टिकोण मानव-कल्याण की प्रेरणा से ही प्रेरित होता था। विश्वभारती को वह विश्व-संस्कृति की संस्था बनाना चाहते थे। वह चाहते थे कि वहां अनेक संस्कृतियों के उपासक आयें, रहें और विश्वसंस्कृति की साधना करें। विश्वभारती में चीना-भवन स्थापित होने की बातचीत चल रही थी। इसके पहले ही गुरुदेव के मन में हिन्दी-भवन की बात थी। ये भवन बने। इसी प्रकार उन्होंने एक बार अपने घर पर राजस्थानी साहित्य के बारे में गोष्ठी की थी।

राजस्थानी साहित्य को, जो हिन्दी का ही एक अंग है, सुनकर वह मुग्ध हो गये। उन्होंने कहा, "आज के दस वर्ष पहले मैं इसको सुनता तो इसका बंगला में अनुवाद करता।" यह थी उनकी विश्वबंधुत्व की भावना और सब भाषाओं के प्रति उनका प्रेम और आदर।

४ : लेडी अबला बोस

सन् १९२७ में जब मैं मारवाड़ी बालिका विद्यालय का मंत्री चुना गया, तो स्वभावतया मेरी इच्छा कलकत्ता के अच्छे-अच्छे सभी बालिका विद्यालय देखने की हुई। इसी सिलसिले में स्थानीय ब्राह्म बालिका विद्यालय भी देखने गया। इस संस्था की प्रधानाध्यापिका एक अपटू-डेट महिला थीं, जिन्होंने इंग्लैंड में किण्डरगार्टेन तथा शिक्षा-संबंधी अन्य ट्रेनिंग पाई थी। उन्हींके पास मैंने एक दुबली-पतली सांवली, नाटी-सी वृद्धा को भी देखा, जो बहुत सादी पोशाक में थी और बड़े उत्साह, तत्परता, सौजन्य एवं अपनत्व के साथ सारी चीजें दिखा और समझा रही थीं। मैंने पास खड़े एक व्यक्ति से जब उनका परिचय पूछा, तो मुझे बताया गया कि यही लेडी अबला बोस हैं। मुझे उनकी बात और अपनी आंखों पर जैसे विश्वास नहीं हुआ। सर जगदीशचन्द्र बसु जैसे विश्वविख्यात विज्ञान-वेत्ता की पत्नी और इतनी सरल, निराडम्बर, निरभिमानी और इतनी घुल-मिलकर बातें करनेवाली! यही था मेरा लेडी बोस से प्रथम साक्षात्कार।

इसके बाद स्वभावतया लेडी बोस के बारे में अधिक जानने, उनके अधिक सम्पर्क में आने की मेरी उत्सुकता हुई। कुछ दिनों बाद बंगाल के गवर्नर द्वारा उनकी प्रिय संस्था नारी शिक्षा समिति के उद्घाटन का अवसर आया। लेडी बोस का निमंत्रण पाकर मैं भी उस अनुष्ठान में शरीक हुआ—वैसे गवर्नरों के आयोजनों में जाने की उन दिनों इच्छा

या प्रेरणा ही नहीं होती थी। लेकिन इस अवसर पर मातृ जाति के दु:ख-दर्दों के प्रति लेडी बोस में जो गहरी सहानुभूति और उसकी शिक्षा, सुख और हित के प्रति उनका जो अनुराग और लगन देखी, उसका मुझपर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा। इस संस्था के द्वारा, जिसमें सामान्य ग्रामीण बहनों से लेकर अच्छी सभ्य शिक्षिता बहनों की सेवा, सहायता, शिक्षा होती है, उन्होंने केवल स्त्री-जाति की सेवा और सहायता ही नहीं की, उनमें अपने पावों पर खड़ा होने का आत्मविश्वास और आत्मबल भी भरा है। इसके अलावा संस्था की महिलाओं द्वारा तैयार की हुई चीजों में से रुपये-आठ आने तक की चीजों को मैंने स्वयं लेडी बोस को कार्नवालिस स्ट्रीट में तथा दूसरी जगहों पर खड़े होकर निःसंकोच बिक्री करते देखा है।

एक बार जमनालालजी बजाज कलकत्ता आये हुए थे। लेडी बोस की चर्चा चली तो बोले कि मेरा तो उनसे और डा० बोस से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा हैं। उनसे जरूर मिलेंगे। उस दिन हम लोग सौभाग्य से बोस-दम्पति के अलावा आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय और श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय महोदय से मिले। बोस-दम्पति की बैठक की सादगी और उनकी मिलनसारी, सरल स्वभाव आदि कभी भुलाये नहीं भूलेंगे। जिस प्रेम, अपनत्व और विनम्रता के साथ बोस-दम्पति हम लोगों से मिले, वह दृश्य मानों आज भी आंखों के सामने ज्यों-का-त्यों है। इसके बाद जब-जब लेडी बोस से मिलने का मौका मिला, मैंने अनुभव किया कि वह ऊंचे और संवेदनशील मानस की मानवी थीं और किसीके दु:ख-कष्ट की उपेक्षा बरदाश्त ही नहीं कर सकती थीं।

एक बार उन्होंने मुझे और भागीरथजी को अपनी प्रिय संस्था के सम्बन्ध में बातचीत करने को बुलाया था। उस बार भी हम उनकी सादगी और कलापूर्ण ढंग से सजी बैठक में ही बैठे, पर उस दिन विज्ञानाचार्य सर जगदीश के अभाव में जैसे वह बिना प्राण के देह जैसी लग रही थीं। सामने दीवार पर वही अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का भारतमाता का चित्र टंगा था, जो उस दिन हम लोगों ने देखा था। पर उस दिन की भारतमाता में हमें जो बल और मुक्ति की प्रेरणा तथा छटपटाहट नज़र आई थी, आज स्वाधीन भारतमाता के चेहरे पर स्वतंत्रता की वैसी

प्राणमय आभा का अभाव-सा लगा। जव लेडी वोस आयीं तव उन्हें देखकर भी लगा, मानों सर जगदीश के वियोग ने उन्हें झकझोर डाला है। पर वातचीत में मैंने पाया कि नारी-जाति के दुःख-कष्ट दूर करने की वही चिन्ता, वही तत्परता, वही आकुलता और हार्दिकता ८७ वर्ष की उम्र में भी उनमें है, जो कि ५०-६० वर्ष पहले थी। उनकी वातों का सारांश यही था कि उपेक्षित, उत्पीड़ित और अशिक्षित नारी-जाति की उन्नति और स्वावलम्वन का जो कार्य उन्होंने आरम्भ किया, वह कायम और फलता-फूलता रहे। उनका शरीर अवश्य जर्जर हो गया था, पर उनका मस्तिष्क पूर्णरूप से सजग और स्वस्थ था। वह सारी वातें स्पष्ट रूप से सोचतीं और सवसे नियमानुसार काम लेती थीं। उनका यह कार्य एक अखण्ड दीप की तरह आज भी जारी है और उसे जारी रखना तथा आगे वढ़ाना हम सवका पुनीत कर्तव्य है।

५ : बालमुकुन्द गुप्त

जिस समय श्री वालमुकुन्द गुप्त का जन्म हुआ था और उनका लालन-पालन, शिक्षण और संस्कार हुए थे वह युग भारत का विशेष युग था। उस युग ने हमें हर दिशा में अनेक विशेष पुरुष दिये।

इन वड़े लोगों की अपने-अपने क्षेत्रों में विशेष देन है। इन लोगों ने जिस क्षेत्र में भी काम किया उसी क्षेत्र में भारत के गौरव को इतना वढ़ा दिया कि इतना लम्वा समय गुजर जाने पर भी इन महापुरुषों की याद वनी हुई है और देश कृतज्ञता के साथ उनकी याद करता है।

जव गुप्तजी कलकत्ता से 'भारतमित्र' का सम्पादन करते थे, वह समय हिन्दी के लिए प्रयत्न करने का समय था। उन दिनों कलकत्ता हिन्दी का विशेष केन्द्र वन गया था। हिन्दी के अनेक साधक, चिन्तक और साहित्यकार उन दिनों कलकत्ता में थे और वाहर के लोग कलकत्ते

की ओर देखा करते थे। आज कलकत्ता उस समय से कम-से-कम आठ-दस गुना बड़ा है और यहां हिन्दीभाषी लोगों की संख्या भी हिन्दुस्तान के किसी एक नगर के हिन्दीभाषियों की संख्या से बहुत अधिक है। इसके अलावा यहां साधन तथा सुविधाएं भी दूसरी जगहों से बहुत अधिक हैं। उन दिनों का आज किसी बात से मुकाबला नहीं किया जा सकता। तब 'भारतमित्र' को लोगों के घर जाकर पढ़कर सुनाना पड़ता था, बिना पैसे के। पाठकों का ऐसा अभाव साधकों के लिए चुनौती थी और वे हिन्दी के अनन्य सेवक, साधक और चिंतक तथा साहित्यकार इस तप में तप रहे थे कि किस प्रकार हिन्दी उन्नत हो, फले-फूले, फैले-पनपे। गुप्तजी ने उस समय जो तप किया था जिस प्रकार हिन्दी को संवारा, सिंगारा, सजाया और हिन्दी-पत्रकारिता की जो सेवा की, गहन विषयों को अपनी प्रवाहमय भाषा द्वारा सरल, सहज बनाकर उपस्थित किया, वह सदा स्मरणीय है। गुप्तजी की हिन्दी-सेवा या हिन्दी-पत्रकारिता हिन्दी-जगत में सदा आदरणीय रहेगी। आज एक सौ वर्ष बाद ही नहीं, जब कभी हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास पर विचार होगा तब गुप्तजी को आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण करना पड़ेगा। गुप्तजी और उनके साथी उस समय जो कार्य करते थे, उससे कलकत्ता हिन्दी-जगत में सम्मान तथा महत्व का स्थान रखता था। आज आदमी तो बहुत हैं, साधन भी प्रचुर हैं, पर कोई तपस्वी नहीं दीखता जो हिन्दी की सेवा करना अपना जीवनोद्देश्य बनाये। मैं मानता हूं कि जिस स्वाधीन देश की अपनी भाषा न हो—ऐसी भाषा, जिसे गौरव के साथ अपनी राष्ट्रभाषा कह न सके, वह देश स्वाधीन देशों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता, उसकी स्वाधीनता अधूरी है, उसका विकास असम्भव है। पराई भाषा के आश्रय से सोचने और चलनेवाला देश स्वाधीन कैसा? भारत के कोटि-कोटि लोगों का विकास करना है, उनको शिक्षित करना है तो वह किसी भी पराई भाषा के द्वारा या उसके आधार पर हो नहीं सकता। करोड़ों लोगों के लिए अपनी भाषा चाहिए। कुछ लोग जिस भाषा को समझ सकें या उससे लाभ उठा सकें, ऐसी भाषा ही हमारे लिखे-पढ़े लोगों की भाषा बनी रहे या मानी जाय, तो फिर

देश ज्ञान के क्षेत्र में कभी विकसित नहीं हो सकता, देश के विकास के लिए तो उसकी अपनी भाषा होगी तभी वह विकासमान होगा। आज गुप्तजी की शतवार्षिकी पर हर आदमी का, जो गुप्तजी के प्रति श्रद्धा निवेदन करना चाहता है, प्रयत्न होना चाहिए कि जिस भाषा को उन्नत करने के लिए गुप्तजी ने अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ समय, शक्ति और श्रम दिया, उसका ऋण हमारे ऊपर है और उनको तथा ऐसे महापुरुषों की स्वर्गीय आत्मा को श्रद्धा प्रदान करने के लिए हम प्रण करें कि जिस भाषा की उपासना करने में उन महान आत्माओं ने अपने-आपको न्यौछावर किया है, हम उसको देश की उन्नतशील और गौरवशील राष्ट्रभाषा बनायेंगे। यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी गुप्तजी के प्रति। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह हमें सही मार्ग पर चलने का, भारत को विकासमान देश बनाने का, बल दे, जिससे भारत गौरव के साथ हिन्दी को अपनी राष्ट्रभाषा कहने में समर्थ हो। ऐसी हमारी हिन्दी है, हिन्दी हो सकती है, हिन्दी ही होगी। हमारा मानस इसे स्वीकार करे और हिन्दी विकसित हो, इसमें भारत का विकास निहित है।

६ : मैथिलीशरण गुप्त

कला निर्धूम यज्ञाग्नि की तरह उस संपूर्ण समिधा को ग्रहण कर लेती है, जो यज्ञ-काल में सहधर्मियों के हाथों होमी जाती है। कलाकार की कला या कृति का यज्ञकाल तो उतने दीर्घ समय तक चलता रहता है जबतक वह कला या कृति जन-मन-रंजक रूप में जीवित रहती है। कलाकार की कृति ही एक ऐसा चिरकालिक यज्ञ है, जिसमें कलाकार की आत्मा का निवेदन ही नहीं, उसके पाठकों की प्रशंसा-श्रद्धा भी उस यज्ञाग्नि में घृताहुति का कार्य निरंतर करती रहती है। यही कारण है कि कलाकार का वास्तविक परिचय उसकी ऐसी कृतियों के द्वारा होता है

जो दीखने में रत्नाचल की तरह है, लेकिन जिसका महान उद्देश्य तो दान की महत कामना है। कलाकार का प्रत्यक्ष दर्शन या उसके संसर्ग में आने का सौभाग्य वहुत कम लोगों को मिल पाता है, पर उसकी कृतियां तो चाहनेवालों को इस तरह प्राप्त हो सकती हैं, मानो तीर्थ-यात्री को अपरिचित तीर्थों की पगडंडी अपने-आप बढ़ाये ले चले। यही कारण है कि सच्चे कलाकार की कृतियां प्रभाव किये विना नहीं रहतीं।

सन् १९०९-१०की वात होगी। 'सरस्वती' में मैंने गुप्तजी की कविता पढ़ी। उस समय मेरी उम्र वहुत कम थी। गुप्तजी कौन हैं, इससे मेरा कोई सम्वन्ध नहीं था। मैंने कविता पढ़ी, तो जिनके पास से मैंने 'सरस्वती' ली थी, उनके पास जाकर अपनी जिज्ञासा का केवल यही समाधान पाया कि वह महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के शिष्य हैं और द्विवेदीजी ही 'सरस्वती' के सम्पादक हैं। मेरे मन में भी चाह उत्पन्न हुई कि मैं भी 'सरस्वती' का ग्राहक वनूं। उसका वार्षिक मूल्य चार रुपये था, जो उस समय मेरे लिए खर्च करना कठिन था। उन दिनों मैं अपने गांव नवलगढ़ में था। जो हो, किसी तरह मैंने चार रुपये खर्च किये और 'सरस्वती' का ग्राहक वना। इस तरह गुप्तजी की कविताएं पढ़ने लगा। इसके कुछ ही दिनों बाद 'भारत-भारती' निकली। उस समय तक कलकत्ता चला आया था और २५-३० रुपये की नौकरी करने लगा था। मेरे एक दूसरे मित्र वसंतलालजी मुरारका ने 'भारत-भारती' की कुछ पंक्तियां लिखकर भेजीं और इस कृति को पढ़ने का आग्रह किया। अवतक गुप्तजी के प्रति आकर्षण प्रवल हो ही चला था, उनकी यह कृति भी खरीदी और संपूर्ण पढ़ गया। वार-वार पढ़ता रहा और उसकी अनेक पंक्तियां कंठस्थ कर लीं। इस प्रकार गुप्तजी के साहित्य के प्रति मेरा अनुराग व श्रद्धा वढ़ती गई।

जव 'यशोधरा' आई और उसको पढ़ा तो ऐसा लगा कि यह तो अपूर्व चीज है। 'यशोधरा' के कथानक का गुप्तजी ने जिस मार्मिकता से वर्णन किया है वह वहुत ही अनूठा और अनुपम है। 'यशोधरा' पढ़े हुए मुझे आज अनेक वर्ष हो गये हैं, पर उसकी एक पंक्ति मेरे कानों में गूंजती है और यह कहूं तो अत्युक्ति न होगी कि मौके-मौके पर यह पंक्ति

मुझे सहारा और वल देती है—"रुदन का हँसना ही तो गान।" यह वात कितनी गहरी है !

शायद सन् १९३५ में मैंने गुप्तजी के प्रथम दर्शन किये। वह कलकत्ता आये थे। एक साहित्यिक गोष्ठी में पहुंचे थे। जिस वेशभूषा में गुप्तजी को देखा, वह मेरी कल्पना का न था—वुन्देलखंडी पगड़ी, अंगरखा और दाढ़ी, जिसके वालों का कुछ हिस्सा पक गया था। मैंने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मेरी आशा से वहुत ही अधिक स्नेहभाव से नमस्कार के रूप में उसका उत्तर दिया। पर परिचय और वातें न हो सकीं। लोगों ने गुप्तजी से कविता सुनाने का आग्रह किया। मेरे मन में गुप्तजी की कविता सुनने की इच्छा थी। मुझे याद नहीं है, उस समय उन्होंने कुछ कहा तो सही, पर कविता नहीं सुनाई। उस कहने में वहुत ही नम्रता थी। उन्होंने अपनी अकिंचनता वतलाई थी।

इसके वाद 'साकेत' प्रकाशित हुआ। वाहरी जीवन में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण उसे मैं १९४२ की जेलयात्रा में ही पूरा पढ़ सका। उससे एक वर्ष पहले गुप्तजी भी जेलयात्रा कर चुके थे और उनके प्रति जो साहित्यिक श्रद्धा थी वह देशभक्ति का पुट पाकर द्विगुणित हो चुकी थी। मैं 'रामचरितमानस' का नित्य का पाठक हूं। यह कहने की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि 'साकेत' रामचरितमानस से वढ़िया है, पर कई स्थलों पर तो वह निश्चय ही वहुत उत्तम है।

वहन महादेवी कहा करती हैं कि गुप्तजी हमारे पितामह हैं। प्रयाग की साहित्यकार संसद में सरस्वती मन्दिर का शिलान्यास करने राष्ट्रपति आये थे, उस अवसर पर दो-तीन दिन गुप्तजी के साथ रहने का सुअवसर मिला। वहां राय कृष्णदासजी और वृन्दावनलाल वर्मा भी थे। उस उम्र में भी इन तीनों मित्रों को जिस तरह का विनोद करते देखा, वह आज के शिष्टाचार और सभ्यता के अभिशाप से पीड़ित लोगों में नहीं मिल सकता। उनके विनोद में गहरी आत्मीयता और निःसंकोच सरलता के दर्शन होते हैं, वे वड़े प्रिय लगते हैं और ऐसा लगता है जैसे अनपढ़ ग्रामीण अपने खेतों और खलिहानों में काम करते, वातें करते, विनोद में झगड़ रहे हों। वहीं एक दिन वृन्दावनलालजी

वाहर से कुछ देर करके आये। गुप्तजी वड़ी देर से प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें देखते ही गुप्तजी ने रायसाहव से कहा कि तुम्हारी वह लाठी कहां है? उन्होंने पूछा—क्या करोगे? वोले कि इस वृन्दा का सर फोड़ूंगा, यह इतनी देर करके क्यों आया! इसपर वर्माजी ने भी वहुत ही विनोदभरा उत्तर दिया और उपस्थित मित्रों में एक अट्टहास गूंज गया।

जो छंद रचता है, वह कवि कहलाता ही है। जिसका हृदय कवि है, वह छंद-रचना न करने पर भी कवि कहलाता है। कवि-हृदय का मतलव है सहृदयता, सहानभूति, उदारता, स्नेहशीलता, संवेदना। जिसके अन्दर जितनी गहरी संवेदना है, वह उतना ही वड़ा कवि है। दूसरे का दुःख देख-सुनकर हृदय में वेदना का संचार होता है, तो कवि की कविताएं अपने-आप फूट पड़ती हैं और छंद वनते हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के वंटवारे की चर्चा चल रही थी। वंटवारा होकर रहेगा, ऐसी स्थिति वन चुकी थी। कांग्रेस के वड़े लोगों ने पूज्य गांधीजी की इच्छा-अनिच्छा का विचार किये विना उसे स्वीकार कर लिया था। मातृभूमि के अंगभंग की गुप्तजी के हृदय में कितनी वेदना थी, वह उनकी उस कविता से व्यक्त होती है, जो उन्होंने उन्हीं दिनों लिखी थी। उसकी पंक्तियां हैं:

कहो तुम्हारी मृातभूमि का है कितना विस्तार
अवनी को तुम काटो-छांटो, तो क्या व्योम को भी बांटोगे?

आज के इस वैज्ञानिक युग में कवि का यह प्रश्न हल हो गया है। अवनी तो वंटती ही थी, व्योम भी वंट गया। हमारे व्योम में किसीके हवाई जहाज हमारी आज्ञा के विना नहीं घुस सकते। वह आगे कहते हैं:

एक देश के विविध अंग हम, दुःखे-सुखे एक संग हम,
लगे एक के क्षत पर सबके स्नेहलेप सौ बार॥

वह एक के क्षत पर सवके स्नेह का लेप करना चाहते हैं, सवकी वेदना, सवका दुःख मेरा वन जाय और मैं अपना सुख सवको दूं।

लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्ति।

एक दिन गुप्तजी ने वातें करते हुए कहा कि हमारे पिताजी ने राम-

चरित मानस का एक सहस्र पाठ करने का विचार किया और करने लगे। उनके स्वर्गवास के समय तक यह संकल्प पूरा नहीं हुआ था। हम सब भाइयों ने मिलकर बाकी के पाठों को पूरा किया। पिताजी की राम-भक्ति ने हमें वरदान दिया है, उससे ही हम फूलते-फलते रहे हैं। हमारे परिवार की तेरह कन्याओं का विवाह हुआ, इतनी बड़ी गृहस्थी बड़े आनन्द से चलती है, हिन्दी-जगत का आदर और प्यार प्राप्त है, यह सब हिन्दी माता की सेवा, पिताजी की राम-भक्ति और लोगों की शुभ-कामना का ही कारण है। हिन्दी ने हमें सबकुछ दिया है। हम उसके ऋण से उऋण नहीं हो सकते। गुप्तजी के इन शब्दों में राष्ट्र की संवेदना का जागरूक प्रहरी ही बोलता है।

बिछुड़े साथी

१ : बसंतलाल मुरारका

उस समय मैं १७ वर्ष का था और वसंतलालजी भी प्राय: इतनी ही उम्र के थे। हम लोग राजस्थान के अपने गांव नवलगढ़ में पहले-पहल मिले। वसंतलालजी के एक दूर के भाई मेरे मित्र थे। २० वर्ष की उम्र में ही उनकी मृत्यु हो गई। उनमें देश और समाज की उन्नति की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। हिन्दी की उन्नति के लिए वह वहुत ही प्रयत्नशील थे। एक प्रकार से सार्वजनिक कार्य के लिए उन्होंने ही मुझे दीक्षित किया। मेरी धार्मिक भावनाओं को उन्होंने जगाया और देश तथा समाज की सेवा करने की अभिरुचि पैदा की। हम दोनों मित्रों के प्रयत्न से नवलगढ़ में सन् १९०८ में 'नवलगढ़ विद्या विवर्धन पुस्तकालय' की स्थापना हुई। उस समय की स्थिति को याद करता हूं और युग के आज के परिर्वातित रूप को देखता हूं तों ऐसा लगता है कि वह सव जैसे स्वप्न था। वास्तव में रात और दिन में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर उस समय की स्थिति और आज की स्थिति में है।

एक दिन उसी मित्र, भाई मोहनलालजी मुरारका ने, एक समवयस्क युवक को मेरे सामने लाकर खड़ा किया और कहा, "यह मेरे भाई हैं बसंतलाल मुरारका। मुकुन्दगढ़ के हैं। इनकी इच्छा भी अपने गांव में पुस्तकालय खोलने की है।" इस घटना के दो-चार महीने वाद ही भाई भागीरथजी और बसंतलालजी ने मुकुन्दगढ़ में पुस्तकालय स्थापित कर लिया। यही बसंतलालजी के साथ मेरा पहला परिचय था।

सन् १९११ में मैं कलकत्ता आया। यहां पहुंचने के कुछ दिन बाद भाई मोहनलालजी के यहां वसन्तलालजी से मुलाकात हुई। उन दिनों कलकत्ता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। इस अधिवेशन के सभापति थे बदरीनारायण प्रेमघन। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सभापति होने की बात थी, पर कई कारणों से वह सभापति नहीं हो पाये। मुझे उस समय की स्थिति का ज्ञान नहीं था, पर भाई वसंतलालजी ने, जिन्होंने सम्मेलन में भाग लिया था, मुझे बताया कि द्विवेदीजी सभापति न चुने जाने के कारण असन्तुष्ट हो गये। हम लोगों की उम्र उस समय बहुत कम थी और हम बहुत-सी बातों को सोच-समझ नहीं सकते थे। आज की तरह विकास के साधन भी उस समय उपलब्ध नहीं थे, पर वसंतलालजी ने उसी समय से सार्वजनिक क्षेत्र में काम करना शुरू कर दिया था।

भाई वसंतलालजी बिड़ला-बन्धुओं के यहां बलदेवदास जुगलकिशोर फर्म में तीस रुपये महीने पर काम करने लगे और मैं सूरजमल शिवप्रसाद के यहां पच्चीस रुपये महीने पर। दोनों को काम इतना अधिक रहता था कि बहुत इच्छा रहने पर भी हम लोग आपस में नहीं मिल पाते थे। उन दिनों टेलीफोन की सहूलियत भी नहीं थी। हम पत्रों के जरिये ही आपस में मिला करते।

जब मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' प्रकाशित हुई, तो वसंतलालजी ने पत्र द्वारा मुझे ये पंक्तियां लिखकर भेजीं :

हम कौन थे क्या हो गये और क्या होंगे अभी;
आओ, विचारें आज मिलकर यह समस्याएं सभी।

उन दिनों गद्दियों में रात में काम करना पड़ता था। वसंतलालजी को दस बजे छुट्टी मिल जाती, पर रोकड़ का काम होने के कारण मुझे अधिक समय तक काम करना पड़ता था। जिस दिन मुझे जल्दी छुट्टी मिलने की संभावना मालूम होती, उस दिन हम लोग मिलने की व्यवस्था करते और बड़तल्ला की मोड़ पर कोठी के पास बैठकर घंटों बातें करते। हमारी चर्चा का विषय होती थीं देश और समाज की समस्याएं। इन कामों को कैसे करें, हम इस सम्बन्ध में सोचते-विचारते थे। कभी-कभी देश के गण्य-

मान्य नेताओं के सम्बन्ध में भी चर्चा कर लेते थे, जिनमें लोकमान्य तिलक, विपिनचंद्रपाल, गोखले, लाला लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गांधीजी और बंगाल के क्रांतिकारियों की बातें होती थीं। हमारे साथियों में ऐसे युवक भी थे, जो जेल की सरकारी दमन की स्थिति के लिए अपने को तैयार करने के लिए जमीन पर सोते थे, ईंट का तकिया लगाते थे और खिचड़ी खाते थे। उन दिनों भावनाएं इतनी तीव्र थीं कि हर आदमी, जो जरा भी देश और समाज की सेवा के बारे में सोचता था, हर तरह से अपने-आपको कष्टों में डालना चाहता था। कुछ को छोड़कर ऐसी विचार-धारा रखनेवालों की आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। फिर भी अपनी आमदनी का एक हिस्सा वे सार्वजनिक कार्यों में देने के लिए बाध्य थे। संयोग से इसी समय एक स्वामीजी आये, जिन्होंने नवयुवकों को सादगी, सेवा, सत्यनिष्ठा और देश-प्रेम का पाठ पढ़ाया। उन्होंने सात जीवनोपयोगी व्रत दिलाये : (१) सूर्योदय से पहले उठना, (२) उपासना करना, (३) व्यायाम करना, (४) स्वाध्याय करना, (५) स्वदेशी वस्त्र पहनना, (६) स्त्री-सम्बन्धी चारित्रिक पवित्रता बरतना और (७) आमदनी का कम-से-कम १० प्रतिशत हिस्सा देश के कार्यों में देना। इसके अलावा उन्होंने राजनैतिक तथा सामाजिक चेतना भी जागृत की और सार्वजनिक कार्य करने के तरीके भी बताये।

मैं और भाई बसंतलालजी उन दिनों कार्यकर्त्ताओं की दूसरी पंक्ति में थे, इसलिए सारी बातों की पूरी जानकारी हमें नहीं मिलती थी। पर इस गतिविधि से हम सम्बंधित थे और आकर्षित भी। स्वदेशी आंदोलन ने बंगाल में ही नहीं, समस्त भारतवर्ष में राजनैतिक जागृति और स्वाधीनता की प्रबल भावना पैदा कर दी थी। सामाजिक कार्य उन दिनों कम होते थे, पर समाज-सुधार की चेतना लोगों में जग चुकी थी। समाज-सुधार-कार्यों में पंचों से, घर पर बड़े-बूढ़ों से और समाज से सीधा विरोध होने के कारण यह आंदोलन मारवाड़ी समाज में बहुत धीमा चल रहा था। सुधार की बात अगर कभी आती भी, तो पंचों की मार्फत ही आती।

नवयुवक विचारों की दृष्टि से आगे थे, पर काम करते समय उन्हें बड़ों की ओर देखकर ही आगे बढ़ना पड़ता था। समय-समय पर इस नई

पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में समाज-सुधार कार्यों को लेकर परस्पर संघर्ष भी होता था। कई वार संघर्ष काफी गहरा और उग्र हो उठता था, जैसे आर्य समाज और सनातन धर्म में संघर्ष हुआ। वास्तव में यह नये और पुराने विचारों का ही संघर्ष था।

उन दिनों 'देश की वात' नामक एक पुस्तक की चर्चा हम लोगों में खूब थी। इस पुस्तक ने अंग्रेजी राज्य के विरोध में वहुत अच्छा वातावरण पैदा किया था। इस पुस्तक को पढ़कर हर भारतीय अंग्रेजों का कट्टर विरोधी वन जाता था। पुस्तक जव्त थी। ऐसी स्थिति में उसका किसीके पास मिल जाना खतरे से खाली नहीं था। सरकारी दमन का डर वहुत था। ऐसी बात नहीं थी कि हम डरते नहीं थे, हम डरते थे, किन्तु इस प्रकार की पुस्तक पढ़ने, नेताओं के वारे में जानने की जिज्ञासा रखते थे और समय आने पर कुछ करने-धरने का साहस भी।

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। इसकी प्रतिक्रिया चारों तरफ दिखाई दी। सरकार भारत-रक्षा कानून बनाकर आतंकवादियों को गिरफ्तार करने लगी। अंग्रेजी राज्य के पिट्ठू लोग युद्ध में सहायता करने के लिए आंदोलन और प्रचार करने लगे। मारवाड़ी समाज व्यापारी समाज होने के कारण राजभक्त माना जाता था। विदेशी कपड़े का व्यापार मारवाड़ी समाज का मुख्य व्यापार था। विदेशी कपड़े का आयात अंग्रेजी आफिसों के द्वारा होता था। मारवाड़ी समाज के बड़े नेता या पंच इन आफिसों के दलाल या मुसद्दी थे। पर मारवाड़ी समाज के कुछ युवक थे, जो अंग्रेजी राज्य के खिलाफ विचार रखते थे और आतंकवादी क्रांतिकारियों के साथ उनका सम्वन्ध था। डा० कैलाशचंद्र वोस का मारवाड़ी समाज के धनी और प्रभावशाली लोगों पर उन दिनों काफी दवदवा था। ये सब लोग नययुवकों के रवैये से सख्त नाराज थे। इसी समय एक घटना में पांच-सात युवक भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार हो गये, जिनमें भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, कन्हैयालालजी चितलांगिया, ओंकारमलजी सराफ, ज्वालाप्रशाद कानोड़िया एवं फूलचन्दजी चौधरी थे। श्री घनश्यामदास बिड़ला पर भी वारंट था, पर वह कलकत्ता से बाहर होने के कारण गिरफ्तार नहीं

हो सके। इस घटना का समाज पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सारा नवयुवक समाज भय से कांपने लगा। साथ ही कैलाशवाबू के नेतृत्व में पंच लोग सरकार के पास अपनी राजभक्ति के संदेश भेजने लगे। वर्तमान मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी का नाम उन दिनों मारवाड़ी सहायक समिति था। इस संस्था का संचालन नवयुवकों द्वारा ही होता था। बंगाल में आतंकवादी आंदोलन की भावना रखनेवाली दो समितियां थीं—एक, युगान्तर समिति और दूसरी, अनुशीलन समिति। मारवाड़ी सहायक समिति नाम होने के कारण और नवयुवकों की संस्था होने के कारण कैलाशवाबू ने राय दी कि इस यदि संस्था का नाम न बदला गया, तो सरकार की निगाह में मारवाड़ी समाज शंका की दृष्टि से देखा जायगा। एक तो गिरफ्तारियों के कारण और दूसरे पहले के दो-तीन सामाजिक आंदोलनों के कारण (जिनमें विलायत-यात्रा का आंदोलन मुख्य था) युवक लोग पंचों से मुठभेड़ लेने की स्थिति में नहीं रह गये थे। इसलिए इच्छा न रहते हुए भी मारवाड़ी सहायक समिति का नाम बदलकर मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी रखा जाना स्वीकार कर लिया गया। इनसब बातों का ऐसा व्यापक प्रभाव हुआ कि युवक समाज उससे त्रस्त हो गया और सार्वजनिक काम की चर्चा वन्द-सी हो गई। परस्पर मिलना-जुलना और विचार करना भी छूट गया।

कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' उन दिनों हिन्दी के पत्रों में नवयुवकों का पथप्रदर्शक था। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के लेखों को युवक-समाज आदर की दृष्टि से देखता था। मारवाड़ी सहायक समिति का नाम बदलने पर जो स्थिति हो गई थी, उसपर विद्यार्थीजी ने 'प्रताप' में एक बहुत ही प्रभावशाली लेख लिखा। विद्यार्थीजी की कलम में वह शक्ति थी, वह जादू था, जिसका प्रभाव सर्व-साधारण पर पड़े बिना नहीं रह सकता था और खासकर युवक-वर्ग पर तो उनके लेखों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता था।

भाई वसंतलालजी की पत्नी बहुत बीमार थीं। वह उनको लेकर जसीडीह गये हुए थे। 'प्रताप' के लेख को पढ़कर मेरे मन में जो प्रतिक्रिया हुई, उसको विद्यार्थीजी के लेखों के साथ मैंने भाई वसंत-

लालजी के पास जसीडीह भेजा। मैंने उन्हें लिखा—आप विचार करें, हम लोग क्या कर रहे हैं और जितना जल्दी हो सके, आप कलकत्ता आ जायं। वसंतलालजी पर उस लेख की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक ही थी। उन्होंने मुझे लिखा—चाहे जो हो, हम चुप नहीं बैठ सकते, हमें कुछ-न-कुछ करना ही होगा। आप लोगों से मिलना-जुलना शुरू करें। मैं जल्दी-से-जल्दी आ रहा हूं। एक सप्ताह में ही वह आ भी गये। इस समय जो स्थिति थी उसमें पहली पंक्ति के लोगों के साथ मिलना-जुलना या काम करना सम्भव नहीं था। दूसरी पंक्ति के लोगों में संगठन मुश्किल हो रहा था। कई दिनों की कोशिश के वाद कुछ मित्रों को इकट्ठा किया गया और एक संस्था 'ज्ञानवर्द्धिनी मित्र-मंडली' के नाम से स्थापित की गई। इस संस्था के उद्देश्य में यह साफ तौर से लिखना पड़ा था कि राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक कामों से इस संस्था का कोई सम्वन्ध नहीं होगा। यह संस्था ज्ञानवर्द्धन के कामों तक अपना कार्यक्रम सीमित रखेगी। ऊपर का संकेत उस समय की स्थिति को साफ करता है कि राजनैतिक काम में सरकारी भय, धार्मिक काम में ब्राह्मणों की वाधा, सामाजिक कार्यों में पंचों का आतंक पूर्णरूप से नवयुवकों में व्याप्त था। यदि ऐसा न किया जाता तो संस्था का आरम्भ करना ही मुश्किल हो जाता। आज वे सब वातें कल्पना के बाहर की चीज हो गई हैं। मुझे उस दिन की और आज की स्थिति की तुलना करने पर स्वयं भी आश्चर्य होता है। 'ज्ञानवर्द्धिनी मित्र-मंडली' तो एक साधारण वहाना था। जो काम आगे करना था वह काम इस मंडली के द्वारा हो नहीं सकता था। ऐसी स्थिति में एक और संस्था की जरूरत महसूस होने लगी। आहिस्ते-आहिस्ते वातावरण भी वदल रहा था। पुराने लोगों के साथ संघर्ष था ही। पुराने लोगों की संस्था थी 'मारवाड़ी एसोसिएशन।' सरकार में इसी संस्था और उसके संचालकों का प्रभाव था। कई दिनों के सोच-विचार के वाद मारवाड़ी 'ट्रेडर्स एसोसिएशन' नाम से एक नई संस्था की स्थापना की गई, जिसके सभापति स्वर्गीय देवीप्रसादजी खेतान और मंत्री श्री जगन्नाथप्रसादजी अग्रवाल चुने गये। सवाल था, इस संस्था के द्वारा वे सब काम कैसे हों, जो नवयुवक करना चाहते थे अथवा जो उन्हें करना उचित था? केवल

व्यापार की बातों से तो नवयुवकों को संतोष हो नहीं सकता था। इसलिए इस संस्था के अन्तर्गत कई विभाग खोले गये, जैसे ज्ञानवर्द्धक विभाग, जिसमें 'ज्ञानवर्द्धिनी मित्र-मंडली' अन्तरभुक्त कर दी गई। सेवा-विभाग का मंत्री भाई वसंतलालजी को वनाया गया और इस विभाग के द्वारा बहुत काम हुआ। 'मारवाड़ी एसोसिएशन' की सारी धाक और महत्व को इस संस्था ने खत्म कर दिया, फिर भी समाज पर वड़े आदमियों का जो प्रभाव था, वह तो था ही।

इसी बीच पूज्य जमनालालजी वजाज ने समाज-सुधार की दृष्टि से 'अग्रवाल महासभा' की स्थापना की वात सोची। कलकत्ता मारवाड़ी-समाज का खास केन्द्र था और जमनालालजी का यहां के युवकों से संबंध भी था। इसलिए वह अग्रवाल महासभा की चर्चा के लिए कलकत्ता आये। नवयुवकों का तो पूरा सहयोग उन्हें प्राप्त था ही, पर वह चाहते थे कि पुराने विचारवाले या पंच-पंचायतवाले लोगों का भी सहयोग प्राप्त किया जाय। वहुत कोशिश करने पर भी जमनालालजी उनका सहयोग प्राप्त न कर सके। पर वम्वई तथा दूसरे प्रांतों में उन्हें सहयोग मिला। वर्धा में अग्रवाल महासभा का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें श्री देवीप्रसादजी खेतान और भाई वसंतलालजी कलकत्ता के प्रतिनिधि के रूप में सम्मलित हुए। लेकिन उसी समय जमनालालजी के परिवार में एक दुःखद मृत्यु हो जाने के कारण अधिवेशन विशाल रूप में नहीं हो सका। महासभा का दूसरा अधिवेशन वम्वई में वड़ी धूमधाम से हुआ। प्रसिद्ध सनातनी और समाज के पुराने घराने के वयोवृद्ध श्री रामलाल गनेड़ीवाल को सभापति चुना गया। इस अधिवेशन में कलकत्ता के नवयुवकों ने काफी संख्या में भाग लिया। ताराचन्द घनश्यामदास[1] की ओर से जयनारायणजी पोद्दार भी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए और उन्होंने कार्रवाही में उत्साह-पूर्ण हिस्सा लिया। यह सम्मेलन बहुत ही सफल रहा। कर्मवीर गांधी भी इस सम्मेलन में एक दिन के लिए आये और बोले। पचास हजार रुपये का चन्दा तत्काल इकट्ठा

---

१. कलकत्ता की मशहूर पुरानी मारवाड़ी फर्म

करके उनको दिया गया। इसी अधिवेशन में छः लाख रुपयों से अग्रवाल कोष की स्थापना हुई। समाज-सुधार के प्रस्तावों में बाल-विवाह के प्रस्ताव पर काफी वाद-विवाद के बाद यह तय हुआ कि बारह वर्ष से पहले लड़की और सोलह वर्ष से पहले लड़के का विवाह न किया जाय। इसके साथ ही संशोधन के रूप में यह छूट दे दी गई कि अगर किसीको इस संबंध में आपत्ति हो, तो वह स्थानीय पंचायत की अनुमति लेकर बारह वर्ष से कम उम्र की लड़की और सोलह वर्ष से कम उम्र के लड़के के विवाह में सम्मिलित नहीं होंगे। कहना नहीं होगा कि भाई वसंतलालजी प्रतिज्ञा करनेवालों में से थे। इसके बाद तो प्रतिज्ञा करने का एक अभियान-सा चल पड़ा, जिसमें भाई वसंतलालजी ने काफी काम किया। आज ये सब बातें साधारण और बहुत हल्की लगती हैं, पर उस समय ये बहुत बड़ी-बड़ी बातें थीं। इस प्रतिज्ञा करनेवालों को अपार कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। ऐसे अवसर भी आये, जब भाई अपनी बहन की चुनरी उढ़ाने तक नहीं जाते थे। बाल-विवाह के आन्दोलन ने एक विशेष आन्दोलन का रूप लिया और भाई वसन्तलालजी को अपने साथियों के साथ काले झण्डों का प्रदर्शन भी करना पड़ा।

महासभा का तीसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, जो बहुत ही प्रभावशाली और बृहत् रूप में था। पंचायत के लोग इस अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए। अधिवेशन के बाद महासभा का कार्यालय कलकत्ता में ही रहा। भाई वसन्तलालजी महासभा के प्रधान मंत्री चुने गये। भाई पद्मराजजी जैन के सहयोग से महासभा का काम और प्रभाव मारवाड़ी समाज में खूब बढ़ा। हजारों शाखाएं भारत के बड़े-बड़े शहरों और ग्रामों में स्थापित हुईं, जिनके द्वारा बाल-विवाह आदि का विरोध किया गया। इन सारे अभियानों में बसन्तलालजी का प्रमुख स्थान था। इस सामाजिक आन्दोलन के बराबर-बराबर राष्ट्रीय आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। पूज्य जमनालालजी के प्रयत्न से कांग्रेस कमेटी की स्थापना करके बड़ा बाजार में कांग्रेस का काम आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। भाई पद्मराजजी जैन मंत्री और बसन्तलालजी सहायक मंत्री बनाये गए। इस प्रकार सामाजिक और राजनैतिक कार्य

साथ-साथ होने लगे।

पूज्य महात्माजी के आह्वान पर सन् १९२१ का आन्दोलन शुरू हुआ। वसन्तलालजी ने प्रमुख भाग लिया। फलतः वह गिरफ्तार किये जाकर प्रेसीडेंसी जेल में भेज दिये गए। उन दिनों जेल जाना मामूली वात नहीं थी, फिर वसन्तलालजी का तो परिवार भी काफी वड़ा था। उनका विवाह हुए भी चार-पांच वर्ष ही हुए थे। इन सव कठिनाइयों की परवा किये विना ही वसन्तलालजी ने आन्दोलन में पूरा भाग लिया। वसन्तलालजी को डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुनाई गई। मेरा ख्याल है कि मारवाड़ी समाज में देश के लिए जेल जाने का यह पहला उदाहरण था। वसन्तलालजी की मां उनके जेल-जीवन की वातों से वहुत ही दुखी हो गई थीं। पर अन्त में उन्होंने हम लोगों से कहा—"वसंतियो शिवरात्रि के दिन जनम्यो है, वो भोलो शंभु है, ऊं की रक्षा भगवान शिवजी महाराज ही करेगा।" इस आन्दोलन में देश-वन्धु दास, सुभाषचन्द्र वोस तथा वंगाल के अनेक दूसरे नेता जेल गये। मौलाना अवुल कलाम आजाद, मौलाना अकरम खां (जो वाद में मुस्लिम लीगी वन गये), वड़ा वाजार से पद्मराजजी जैन, अम्विकाप्रसादजी वाजपेयी, भाई मूलचन्दजी अग्रवाल, भोलानाथजी वर्म्मन, माधवजी शुक्ल, लक्ष्मण नारायणजी गर्दे आदि अनेक लोग जेल में वसन्तलालजी के साथी हो गये। वाद में महात्माजी ने चौरीचौरा काण्ड होने पर आन्दोलन वन्द कर दिया और यह एलान कर दिया कि जो जेल गये हैं वे वहां न रहना चाहें, तो सरकार से अनुरोध करके वाहर आ सकते हैं। वसन्तलालजी ने ऐसा नहीं किया। जो लोग जेल गये हैं, वे समझ सकते हैं कि आन्दोलन की गति धीमी पड़ जाने पर जेल में रहनेवालों की मनोदशा क्या होती है। जेल के अधिकारियों का व्यवहार कितना क्रूर और यातनामय वन जाता है! फिर आन्दोलन का अनिश्चित काल तक वंद हो जाना कितना दुःखद होता है। जिन लोगों की सजा कम थी, वे तथा दूसरे लोग भी आहिस्ते-आहिस्ते वाहर आने लगे। पर वसन्तलालजी की सजा तो वहुत थी। उनके साथ जेल में वहुत कम आदमी रह गये थे, पर वह अपने आनन्दी स्वभाव के कारण दुःख-सुख की परवा

किये विना जेल की अवधि पूरी कर रहे थे।

जेल से वाहर आने पर वह फिर अपने सामाजिक कार्यों में लग गये। अग्रवाल महासभा का काम तथा दूसरे सामाजिक काम करने लगे—वाल-विवाह और वृद्ध-विवाहों को रोकने के आन्दोलनों तथा उनके परिणामों से हम तंग आने लगे थे और ऐसा सोचने लगे थे कि हमें समाज-सुधार का कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहिए, जिससे समाज में क्रांति की भूमिका तैयार हो सके। इसी समय हमने सुना, एक वाल-विधवा जानकीदेवी साह वैधव्य-दुःख से तंग आ गई हैं और पुर्नविवाह करना चाहती है। पर पुर्नविवाह हो कैसे ? यह एक बड़ा सवाल था। काम तो वड़ा भारी था, पर जोश और उत्साहवश इसकी कौन परवा करता था! जानकीदेवी को उसके घर से तो ले आये, पर अब उसके विवाह की व्यवस्था कैसे हो, यह एक समस्या थी। पुराने आर्यसमाजी भाई नागरमलजी लील्हा विवाह करने के लिए तैयार हो गये। नागरमलजी की उम्र करीव छत्तीस साल की थी, जानकीदेवी की बाईस वर्ष की। दोनों को एक-दूसरे को दिखलाकर विवाह तय हो गया। विवाह के लिए स्थान का सवाल था। आर्य समाज मंदिर तो मिल सकता था, पर वहां विवाह हो, यह हम पसंद नहीं करते थे। भाई नागरमलजी मोदी अपना मकान देने के लिए तैयार थे। जानकीदेवी को उनके घर पर ही छिपाकर रखा गया था, किन्तु वह मकान छोटा था। इसलिए छाजूरामजी चौधरी का मकान ठीक किया गया। यह मकान वहुत सुन्दर और वड़ा था। साथ ही, यह वड़ावाजार के वीच में था। छाजूरामजी से वात करने पर वह सहर्ष राजी हो गये। यह विवाह अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसका इतिहास लिखने के लिए अलग लेख लिखा जा सकता है। इस कार्य में बसन्तलालजी का महत्वपूर्ण हाथ रहा। परिणाम-स्वरूप पंचायत की सभा में वारह समाज-सुधारकों को इस विवाह में भाग लेने के लिए अलग-अलग इलजाम लगा कर जाति से वाहर कर दिया गया। भाई वसन्तलालजी को भी जाति से बाहर किया गया। जाति-बाहर का भी एक आन्दोलन वन गया। बसन्तलालजी का निजी कुटुम्ब वड़ा होने के कारण और भाइयों आदि में विचारों की भिन्नता

होने के कारण उनको तथा उनकी पत्नी को काफी परेशानियां उठानी पड़ीं, परन्तु वसन्तलालजी के पिता पूज्य रामदेवजी ने उनके कामों का पूरा समर्थन किया और उनके भाइयों ने भी साथ दिया।

वसन्तलालजी के छोटे भाई शुभकरण का विवाह था। इस विवाह के समय राष्ट्रीय आन्दोलन और खिलाफत-आन्दोलन चल रहा था। खिलाफत-आन्दोलन के कारण वसन्तलालजी का मुसलमान भाइयों से गहरा सम्बन्ध था, इसलिए उस विवाह में उनको भी निमंत्रित किया गया। स्वर्गीय देशबन्धु दास भी इस विवाह में पधारे। उनके साथ मौलाना आजाद, अकरम खां और पचासों अन्य मुसलमान आये। मुसलमानों को भोजन कराते समय समाज के कुछ लोगों को नाराजगी रही। उनके भोजन करने के बाद झूठी पत्तल उठाने के लिए नौकरों ने इन्कार कर दिया। कुछ मिनटों में ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि भाई वसन्तलालजी ने उन मुसलमानों को बुलाकर और भोजन कराकर एक हंगामा-सा कर दिया है। लेकिन वसन्तलालजी ने अपने मुसलमान दोस्तों की जूठी पत्तलों को उठाकर सारे लोगों को चकित कर दिया। मुसलमानों को बुलाकर घर पर भोजन कराना और फिर उनकी झूठी पत्तलों को उठाना साधारण बात नहीं थी। इसकी चर्चा और विरोध बहुत रहा, पर वसन्तलालजी का उत्साह और उनकी दृढ़ता ऐसी थी कि उनके घर के लोग और दूसरे विरोधी भी उनसे नाराज नहीं होते थे।

सन् १९३० तक अग्रवाल महासभा के द्वारा जो भी सामाजिक काम हुए, उनका बहुत-कुछ श्रेय भाई वसंतलालजी और पद्मराजजी को था। कांग्रेस के द्वारा जो राजनैतिक काम होते थे उनमें भाई वसंतलालजी पूरा-पूरा हिस्सा लिया करते थे। सन् १९३० में गांधीजी ने नमक सत्याग्रह का देशव्यापी आंदोलन चलाया। गांधीजी की डांडी-यात्रा के दिनों में बंगाल में एक आईन-अमान्य कमेटी की स्थापना की गई। उसके संचालन में भाई वसंतलालजी ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया। वह बड़ा बाजार से संगठन करके नमक सत्याग्रह करने के लिए कलकत्ता से ७-८ मील दूर महिषाथान में सत्याग्रहियों के जत्थे भेजने लगे। फलस्वरूप

उनको गिरफ्तार कर लिया गया और बंगाल के कई नेताओं के साथ उनको डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी गई। जेल में कलकत्ता के तथा बंगाल के अनेक नेताओं और कार्यकर्त्ताओं से भाई वसंतलालजी का सम्बन्ध हो गया और वह आंदोलन के खास आदमी माने जाने लगे। अपने विनोदी और और सरल स्वभाव के कारण वह जेल में बहुत ही प्रिय रहे। कोई घटना होने पर वसंतलालजी कहा करते थे—आनन्द हो गया। जेल में सब लोगों को एक-एक कांच का गिलास मिलता था। संयोगवश किसीके हाथ से गिलास गिरकर टूट जाता तो टूटने की आवाज सुनकर जिस सज्जन का गिलास टूटता, उनको सम्बोधन करके वसंतलाल-जी तुरन्त कहते—आनन्द हो गया क्या? वह इस तरह दुःख को स्वभावतः सुख का रूप दे दिया करते थे। उनके इस स्वभाव के सम्बन्ध में एक घटना और याद आती है। सन् १९३२ में जेल से छूटने के बाद हम लोग स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से राजस्थान गये। वसंतलालजी के मुकुन्द-गढ़-स्थित मकान में एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। उनके लड़के की नाक में तकलीफ थी। इसलिए उसका आपरेशन कराने के लिए उस लड़के को और उसकी मां को पिलानी ले गये। संयोग से उस लड़के की मां ऊंट से गिर पड़ी और उसे चोट लगी। वह गर्भवती थी। वसंतलालजी ने मुझे सूचना दी—"भाईसाहब, आज तो आनन्द जोर को होगो।" कहने का मतलब यह कि वह किसी घटना से घबराते नहीं थे और उसको अपनी सरलता के कारण विनोद में बदल दिया करते थे। जेल के कष्टों और मानसिक आंदोलन की तीव्रता के समय जब-जब निराशा, दुःख और असफलता सामने आती, वह अपनी भाषा में कहते थे, "आंटो-सांटा लागकर सुख होवा हालो है" यानी जो दुख आता है, या असफलता आती है, वह सुख और सफलता देने के लिए आती है।

उन दिनों समाज में मृतक बिरादरी भोज हुआ करता था। साधा-रण स्थिति के आदमी को अपना घर या जो भी सम्पत्ति होती, वह बेच-कर अथवा ऋण लेकर मृतक बिरादरी भोज करना पड़ता था, इसका दुःखद अनुभव नवयुवक समाज किया करता था।

अन्त में इसके लिए पिकेटिंग करने का निश्चय किया गया और

पिकेटिंग का संगठन करने में भाई वसंतलालजी ने वहुत ही उत्साहपूर्ण काम किया। मृतक विरादरी भोज के स्थानों पर जाकर जोरदार पिकेटिंग की गई। कई जगहों पर भोजन करनेवालों के सामने लेटना भी पड़ा। विरोधियों की ओर से इस आंदोलन का जोरदार विरोध किया गया और सत्याग्रहियों पर जूठी पत्तल और गन्दा पानी भी गिराया गया, पर इसका कुछ दिनों में इतना व्यापक और गहरा प्रभाव हुआ कि विहार, मध्य प्रदेश आदि प्रांतों में भी यह पिकेटिंग शुरू हुई और मृतक विरादरी भोज वन्द हो गया।

मारवाड़ी समाज में पर्दा-प्रथा भी वहुत जोरों से प्रचलित थी। नवयुवक समाज को इस प्रथा को तोड़ने के लिए काफी आंदोलन करना पड़ा। भाई वसंतलालजी के नेतृत्व में सन् १९२९ में एक शिष्टमंडल पर्दा-प्रथा के विरोध में आंदोलन करने के लिए वंगाल, विहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि स्थानों में गया और जगह-जगह सभाएं आदि करके पर्दा-प्रथा के विरोध में आंदोलन शुरू किया गया। इस आंदोलन को स्थायी वनाने के लिए सन् १९२९ की कार्तिक शुक्ल ११ (देवोत्थान एकादशी) के दिन सारे भारतवर्ष के नगरों में 'पर्दा निवारक-दिवस' मनाया गया, जिसका अधिकांश श्रेय भाई वसंतलालजी को दिया जा सकता है। मतलव यह कि विलायत-यात्रा, वाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, मृतक विरादरी भोज और पर्दा-निवारण आदि कोई भी आंदोलन सन् १९२० से सन् १९५६ तक, उनकी मृत्युपर्यन्त नहीं हुआ, जिसमें उन्होंने हिस्सा न लिया हो। इसी प्रकार राजनैतिक आंदोलन में सन् १९२० से लेकर सन् १९४२ के 'करेंगे या मरेंगे' आंदोलन तक ऐसा एक भी आंदोलन नही हुआ, जिसमें वह जेल न गये हों और अधिक-से-अधिक भाग न लिया हो। सेवा और शिक्षा के काम में भी वह सदा आगे रहते थे। सन् १९३४ में विहार में जो भयंकर भूकम्प हुआ था, उस समय की वात है। उनकी स्त्री के वच्चा होनेवाला था और पीड़ा हो रही थी। ऐसी हालत में वह उसे छोड़कर भूकम्प-पीड़ितों की सेवा करने चले गये। वसंतलालजी एक ऐसे वहादुर समाज-सुधारक और देशभक्त थे, जिन्होंने अपने घर की, अर्थ की और परिवार की ज़रा भी परवा किये विना देश

और समाज की सेवा की।

सन् १९४५-४६ में ऐसा लगा था कि देश निश्चय ही स्वाधीन होगा और तब जो विधान-सभाएं बनेंगी, वे स्वाधीन देश की विधान-सभाएं होंगी। इसलिए उनकी इच्छा हुई कि वह विधान-सभा में जायं। सन् १९४६ की फरवरी में जो चुनाव हुए, उनेमें वह चुनाव लड़ने के लिए खड़े हुए और प्रबल बहुमत से निर्वाचित हुए। तबसे बराबर पश्चिम बंगाल विधान-सभा के सदस्य रहे। जिस प्रकार स्वाधीनता-आंदोलन में उन्होंने काम किया उसी प्रकार देश के शासन-संचालन और निर्माण-कार्य में भी उत्साह और जोश से काम करते रहे। सन् १९५२ में जो चुनाव हुए उनमें वह बंगाल के वीरभूम जिले से विधान-सभा के सदस्य चुने गये, जहां बंगाली भाइयों के सिवा अन्य किसी के वोट नहीं थे। इस चुनाव में सफलता वसंतलालजी की बंगाल में लोकप्रियता का एक प्रमाण थी।

वसंतलालजी अपने जीवन में सफल रहे। वह अपने विचारों और सिद्धांतों को बराबर अमल में लाते रहे। उन्होंने अपने बड़े पुत्र का विवाह माहेश्वरी समाज में किया और अपने द्वितीय पुत्र का विवाह एक बाल-विधवा से किया। उनकी स्त्री रमादेवी ने उस जमाने में पर्दा छोड़ा और सामाजिक कार्य में हिस्सा लिया जब मारवाड़ी समाज की इनी-गिनी महिलाएं ही पर्दा-प्रथा से मुक्त हुई थीं। इस प्रकार वसंतलालजी का जीवन करीब ४० वर्ष तक निरन्तर देश और समाज की सेवा में लगा रहा। वह हृदय से, स्वभाव से सरल, और कोमल, व्यवहार से उदार और समाज की सेवा से प्रेरित, बहुत ही सच्चे साथी थे। व्यक्तिगत दृष्टि से भी ऐसे मित्र और साथी का वियोग बड़ा ही दुखद होता है।

अंतिम कुछ वर्षों में मेरा उनके साथ मतभेद रहा, पर आखिर में उनकी बीमारी ने मतभेद को भी इस तरह धो डाला कि आज उसका कोई चिन्ह भी नहीं। मृत्यु से कुछ ही दिन पहले हम दोनों ने हृदय की एकता का सुख अनुभव किया। यदि यह न होता तो आज मेरे दुःख का अंत कहां था! यह ईश्वर की कृपा थी और थी उनके हृदय की सरलता एवं सहृदयता।

२ : श्रीमती गंगादेवी मोहता

सन् १९२१ में कलकत्ता प्रेसीडेंसी जेल में स्वर्गीय भाई वसंतलाल-जी मुरारका से मुलाकात के वक्त गंगादेवी मोहता से परिचय हुआ था। उस समय सारे मारवाड़ी समाज के अग्रवाल, ओसवाल, माहेश्वरी आदि किसी समाज में किसी ऐसी महिला को मैं नहीं जानता था या थी ही नहीं, जो घूंघट निकाले बिना पुरुषों में आये-जाये और बातचीत कर सके। इस महिला का साहस, निर्भीकता और उत्साह मुझे उस दिन अद्भुत लगा था। इसके बाद तो परिचय बढ़ता गया। कितने ही स्थानों और मौकों पर साथ-साथ काम करने का अवसर मिला। उन दिनों भाई बाल-कृष्णजी मोहता और गंगादेवी मारवाड़ी-समाज में समाज-सुधार के आंदोलन के एक खास अंग ही नहीं, बल्कि अगुवा माने जाने लगे थे। गंगादेवी ने न मालूम कितने घरों में जाकर अनेक महिलाओं को पर्दे के पाप से मुक्त किया था। सार्वजनिक रूप से पर्दा-प्रथा के विरुद्ध आंदोलन करने की बात सोची गई तो क्या किया जाय, कैसे किया जाय, यह सवाल विकठता के साथ सामने आया, जिसको आज याद करने पर आश्चर्यजनक हंसी आती है। कुछ भी नहीं किया जा सकता, ऐसा लगने पर अंत में यह तय किया गया कि जो दस-पांच मित्र अपनी स्त्रियों का पर्दा छुड़ा सकें वे सब साथ-साथ विक्टोरिया मेमोरियल में मारवाड़ी समाज के लोगों के सामने से निकलें या घूमते रहें। कहना नहीं होगा कि इसमें गंगादेवी और बालकृष्णजी तो विशेष थे ही। शायद यह सन् १९२६ की बात है। इसके बाद ही निश्चय किया गया कि पर्दा-प्रथा के विरुद्ध एक शिष्टमंडल अनेक स्थानों पर जाय और इस बात की कोशिश करे कि प्रत्येक स्थान पर कार्तिक शुक्ल एकादशी को पर्दा-निवारक दिवस की सभा आदि कर पर्दे के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया जाय। कलकत्ता में पर्दा निवारक दिवस की सभा का नजारा शायद पहले की सब सभाओं से अपने ढंग का अलग था। सभा में कार्ड द्वारा प्रवेश का प्रतिबंध लगाने पर स्वयंसेवकों के सिवा पुलिस की सहायता लेना जरूरी हो गया। सभानेत्री का मिलना कितना मुश्किल था, इसकी आज किसी तरह भी

कल्पना नहीं की जा सकती। अन्त में स्वर्गीय भाई देवीप्रसाद खेतान आदि से बात करके श्रीमती जानकीदेवी मुसद्दी (खेतान बन्धुओं की बहन) को राजी किया। लम्बी कहानी है यह और आज के लोगों के लिए आश्चर्यजनक और विश्वास करने लायक भी शायद न हो। कहना इतना ही है कि इन सब स्थितियों को बदलने में तथा आज जो सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, उसको लाने में गंगादेवी का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। मैं जिस मकान में रहता था वहां गंगादेवी आतीं तो पास के लोग उनको अपने कमरे में आने देना पसन्द न करते। पर गंगादेवी मान-अपमान का ख्याल किये बिना अपना काम करती रहतीं। स्वर्गीय भाई मूलचन्दजी उनको मजाक में आराकाटी कहा करते। 'आराकाटी' लोगों को बहका-कर मारीशस, फीजी आदि देशों में जाने के लिए भरती के हेतु ले जाने-वालों को कहते थे। इस प्रकार गंगादेवी ने सामाजिक क्रांति के कदमों को आगे बढ़ाने में अपने जीवन का वह हिस्सा दिया जब लोग राग-रंग, सुख-स्वप्न में भूले रहते हैं। अपने एकमात्र लड़के चिरंजीव ब्रह्मदेव का विवाह एक अनजान कुल में बिना किसी रीति-रिवाज के (दहेज तो कल्पनातीत बात है, जिसका जिक्र करना बालकृष्ण और गंगादेवीजी का अपमान करना है) आज से २५-२६ वर्ष पहले किया था। यह विवाह इस तरह का शायद पहला ही था। गंगादेवी ने बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह परदा-प्रथा के विरोधी तथा विधवा-विवाह आदि सुधार-आंदोलनों में अधिक-से-अधिक भाग लिया।

स्वाधीनता का आंदोलन चल रहा था तब भी वह चुप नहीं बैठीं। एक जुलूस में भाग लेने के कारण उनको गिरफ्तार किया गया और जुर्माने की सजा हुई। जुर्माना न देने पर जेल जाना अनिवार्य था। उन दिनों न तो कोई जुर्माना देता था और न अदालत की कार्रवाही में किसी प्रकार का हिस्सा लेता था। बहन गंगादेवी का जुर्माना दूसरे सज्जन देने लगे तो उन्होंने कहा कि मेरा जुर्माना यदि अदा कर दिया जायगा तो इस अन्याय को किसी भी हालत में बर्दाश्त नहीं कर सकूंगी। इस प्रकार न मालूम अपने जीवन के कितने प्रसंगों में उन्होंने अपनी तेज-स्विता एवं निर्भीकता का परिचय दिया था।

गंगादेवी की बीमारी में श्री बालकृष्णजी ने जो सेवा की, वह साधारण आदमियों का काम नहीं है। शायद ही कोई पुरुष स्त्री की इतनी सेवा कर सकता है। पांच-सात दिन पहले ही भगवानदेवी, जो किसी समय उनकी रंगरूट रही थीं, उनसे मिलने गईं और जिस स्थिति का वर्णन किया, वह अजब है। गंगादेवी ने कहा कि मैं जीना नहीं चाहती, पर उनकी सेवा मुझे मरने नहीं दे रही है।

३ : 'दीदी' सुशीलादेवी

सन् १९२८ की बात है। चार पंजाबी बहनों से परिचय हुआ। एक थीं शांतादेवी, जो हमारे स्कूल में पढ़ाती थीं। दूसरी थीं कौशल्यादेवी, जो आर्य कन्या महाविद्यालय की थीं। तीसरी थीं लीलादेवी, जो कलकत्ता के डेन्टल कालेज की विद्यार्थी थीं। चौथी थीं सुभद्रादेवी, जो बड़ा बाजार की राजनैतिक गतिविधियों में प्रमुख भाग लेती थीं। इन चार बहनों से परिचय हुआ। देश-समाज के बारे में बातें हुईं। इन बहनों में देश-सेवा की विशेष लगन थी।

लीलादेवी तो काफी उग्र विचारों की थीं और वह चाहती थीं कि देश में कोई विशेष क्रांतिकारी आंदोलन हो, जिसमें योग दिया जाय। एक दिन उन्होंने कहा कि हमारी एक बहनजी हैं, उनसे आपको मिलाना है। मैं स्वर्गीय सर सेठ छज्जूराम चौधरी के यहां गया। वहां शांतादेवी ने एक बहन से मेरा परिचय कराया, जिनका नाम था सुशीलादेवी। बहुत दुबली-पतली, निहायत गौर वर्ण और बड़ी-बड़ी आंखें, जिनमें एक विशेष प्रकार की सात्विक ज्योति के दर्शन होते थे और गम्भीर शांत मुद्रा। दोनों हाथ जोड़कर दोनों ओर से प्रणाम-नमस्कार के बाद सुशीलाजी ने कहा, "मैं शांता से कई दिनों से कह रही थी कि आपसे मिलना है।" उन बहन में शालीनता और स्नेहशीलता के विशेष दर्शन हुए। उस समय के

बाद तो अनेक बार हम लोग मिले ।

साइमन-कमीशन के बहिष्कार के दिन थे । चारों ओर देश में उग्रता का वातावरण था, बड़ी उत्तेजना थी और थी कुछ कर गुजरने की तीव्र उत्कंठा । ऐसे मौके पर साइमन-कमीशन के बहिष्कार के जुलूस का नेतृत्व करते हुए स्वर्गीय लाला लाजपतरायजी पर पुलिस की लाठी का प्रहार हुआ । जवाहरलालजी पर लखनऊ में पुलिस की लाठी पड़ी । क्रांतिकारी नवयुवकों ने इस सबको देश का भीषण अपमान माना और उसका बदला लेना तय किया । इन युवकों में भगतसिंह, आजाद और राजगुरू आदि अनेक युवक थे । इनको सुशीलाबहन अनेक तरह से सहयोग देती थीं । सुशीलाजी शांत-गम्भीर भाव से चुप रहकर काम करती थीं । विशेष बातचीत, मिलना-जुलना पसंद नहीं करती थीं, पर जो उनके सम्पर्क में आता, उनके प्रति सहज ही एक आदर की भावना पैदा हो जाती । उन्हीं दिनों सांडर्स की लाहौर में हत्या हुई । उसके बाद सेन्ट्रल असेम्बली में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने बमकांड किया । उन्हीं दिनों लाहौर जेल में जतीन्द्रनाथ दास का भूख-हड़ताल में प्राणान्त हुआ । देश में चारों ओर उथल-पुथल के दिन थे वे । जरा भी सोचनेवाला देश के लिए कुछ करने की तमन्ना लिये फिरता था । सुशीलाबहन से इन घटनाओं पर विचार चलता, पर वह अपनी बात बहुत कम कहतीं । तब भी ऐसा लगता था कि उस छोटे से दुबले-पतले हड्डियों के ढांचे में एक भीषण आग जल रही है देशप्रेम की मानों पर्वत के गर्भ में ज्वालामुखी धधक रहा है । उन्होंने बड़ा बाजार की कुछ महिलाओं और लड़कियों की एक मंडली बटोरकर भगतसिंह डिफेन्स फंड के लिए रकम जमा करने के उद्देश्य से महिला नाटक का आयोजन जिस साहस से किया था, उसको मैं कभी भूलता नहीं । बड़ा बाजार का क्षेत्र तब सामाजिक प्रगति और महिला जागृति की दृष्टि से बहुत पिछड़ा था । सार्वजनिक क्षेत्र में काम करनेवाली कोई महिला दीख न पड़ती थी । तब भी सुशीलाजी ने अपनी पंजाबी बहनों के सहयोग से यह जो साहसपूर्ण कार्य किया था, वह उनके ही बूते का था ।

देश में ऐसा वातावरण तैयार हो रहा था कि बूढ़े-जवान, स्त्री और

पुरुष सब देश के लिए कुछ करने की प्रेरणा से प्रेरित थे। सुशीलाबहन तो पहले से ही शपथ ले चुकी थीं देश की स्वतंत्रता के लिए अपने को होमने की। सुशीलाजी में एक विशेषता थी कि वह अपनेको अधिक सामने नहीं आने देती थीं और भीतर-ही-भीतर बहुत काम करके काम करनेवालों को सहयोग देती थीं। भयंकर क्रांतिकारी विचार रखते हुए भी वह ऊपर से बड़ी शांत नजर आती थीं। वह उत्तेजना या उग्रता से बातें नहीं करती थीं।

वह बहुत अच्छी वक्ता थीं। इसका एक उदाहरण देना अच्छा होगा। १९३० में कलकत्ता की दमदम जेल में एक बीस वर्ष का नवयुवक सजा पाकर आया। वह बीमार हो गया। मैं उसके पास गया और हालचाल पूछा तो उसने बताया कि कलकत्ते से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मैं यहां किसीको नहीं जानता। मैं तो योंही घूमने कलकत्ता आया था। एक पार्क में मीटिंग हो रही थी। मैं संयोगवश वहां चला गया, तो देखा कि एक बहनजी, जो देवी जैसी लगती थीं, बहुत ही उज्ज्वल खादी की साड़ी पहने व्याख्यान दे रही हैं। मैं क्या कहूं, उनके व्याख्यान में जादू था, जादू। मैं पागल हो गया। अपनी सोलह वर्ष की युवा स्त्री, बूढ़ी मां और छोटी-सी बच्ची सबकी याद और जिम्मेदारी भुलाकर मैंने निश्चय कर लिया कि अब देश पर मर-मिटने का यह समय है और आंदोलन में शरीक हो गया। मुझे उन बहनजी के व्याख्यान ने जेल में ला पटका। वह दुःखी था। घबरा गया था। मैंने उससे कहा कि तुम घबराते हो तो जेल से छुटकारा मिल सकता है। माफी मांगने पर तुरन्त बाहर जा सकते हो। वह रोने लगा। माफी किस बात की, मैंने गुनाह थोड़े ही किया है। बहनजी ने कहा था, जैसे अपनी मां सबको प्यारी है, भारतमाता आज भी विदेशियों के हाथों अपमानित हो रही है। मां की सेवा करने के अपराध में हमारे भाई फांसियों पर लटकाये जाते हैं, जेलों में ठूंस दिये जाते हैं, इस स्थिति को कोई भी मां का सच्चा पुत्र बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसका प्रतिकार करना और देश को स्वतंत्र कराना मां के प्रत्येक बेटे का परम कर्त्तव्य है। इसलिए मैंने सरकारी कानून की अवज्ञा करके विदेशी कपड़े की दुकानों पर पिकेटिंग की और सरकार ने सजा

दें दी। मैं नहीं समझता कि मैं अपने देशवासियों से यह कहूं कि आप विदेशी कपड़ा न लें और आज से स्वदेशी वस्त्र ही पहनें तो उसमें क्या अपराध है। इसलिए माफी मांगने जैसा अपमानभरा कार्य करना उस देवी के प्रति अन्याय होगा। मैं उसके मानस को टटोल रहा था, पर उस पर तो सुशीलाजी का व्याख्यान जादू कर चुका था।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण सुशीलाजी के बारे में दिये जा सकते हैं। अप्रैल सन् १९३० में चटगांव में शस्त्रों के कारखानों पर आक्रमण हुआ और उसकी लूट की गई। उसके नेता श्री अनन्तसिंह और लोकनाथपाल आदि अनेक युवक गिरफ्तार हुए और उनपर मुकदमा चला। पैरवी के लिए रुपया इकट्ठा करने के लिए अनन्तसिंह की बहन श्रीमती इन्दुमती कलकत्ता आईं। सुशीलाजी और हम लोगों से वह मिली। सुशीलाजी ने उनकी बहुत मदद की। इसी प्रकार अनेक फरार लोगों को छिपाने में और सहायता करने में सुशीलाजी का पूरा हाथ रहता था।

एक बार एक फरार क्रांतिकारी अपनेको छिपा सकने में असमर्थ हो गया और गिरफ्तार होने की स्थिति आ गई। गिरफ्तार होने पर बहुत तरह के गुप्त रहस्य खुलने का अन्देशा रहता है। इसलिए यह निश्चय किया गया कि गिरफ्तार होने पर फांसी की सजा होगी ही, इसलिए किसी अंग्रेज अफसर को मारकर वहीं मर जाना अच्छा है और ऐसा ही किया गया। वे सब बातें सुशीलाजी की सलाह और सूझ-बूझ की थीं और उनकी सलाह का क्रांतिकारी दल के लोग बहुत आदर करते थे। उनके जीवन का यह एक क्रांतिकारी पहलू है। लेकिन यह अप्रकट था, गुप्त था। बाहर से वह समाज-सुधार और शिक्षा-प्रसार आदि के काम में लगी रहती थीं। सुशीलाजी का बाहरी रूप क्रांतिकारी नहीं था। वह अधिक परिश्रम के कारण अस्वस्थ रहने लगी थीं। उन्होंने कलकत्ता से बाहर जाना उचित समझा। इसीलिए वह शायद दिल्ली चली गईं। वहां वह गांधीजी से मिलीं और अपनी सब बातें उनसे कहीं।

अनेक लोगों ने उनके सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिखे होंगे, पर मुझे तो उनके कलकत्ता के आपबीते संस्मरण और उनका थोड़े दिनों का साथ बहुत ही महत्वपूर्ण और प्राणवान लगता है।

४ : मोतीलाल तेजावत

मोतीलालजी तेजावत उस युग के आदमी थे जब देश अंग्रेजी शासन के अधीन ही नहीं था, उसके बहुत बड़े हिस्से पर अंग्रेजों के गुलाम देशी राज्यों के अत्याचार वहां की जनता पर, खासकर पिछड़े वर्ग के लोगों पर, नाना रूपों में हो रहे थे। लेकिन इस युग में देश एक करवट बदलने लगा था। अत्याचारों का, शोषण का, उत्पीड़न का, उसे भान होने लगा था और ऐसा सोचा जाने लगा था कि इस स्थिति का प्रतिकार भी हो सकता है क्या? वेदनाएं सीमा पार करके एक ऐसी कराह पैदा करने लगी थीं, उनमें ऐसी टीस उठने लगी थी कि जो आदमी का दिल दहला दे। सारे देश में यह हालत किसी-न-किसी रूप में थी, पर देशी राज्यों में इनकी भयंकरता पिछड़े वर्ग के लोगों पर भयानक रूप में ढहती थी। तरुण मोतीलाल ने वे दृश्य आंखों देखे और उनका मन, हृदय, विचार इस स्थिति का प्रतिकार करने का बन गया। वह किसी बात की भी परवा किये बिना उस आग में कूद पड़े। आर्त्त भील तथा वैसे ही लोगों को नेता मिल गया और काम आगे बढ़ने लगा।

मोतीलालजी के जीवन पर हम विचार करें, तो यह स्पष्ट पता लग जायगा कि उनके सामने किसी प्रकार का कोई आकर्षण नहीं था। उन्होंने अपने लिए कुछ सोचा ही नहीं कि मेरे इस कदम उठाने का क्या परिणाम हो सकता है। उन्होंने एक आर्त और पीड़ित समाज की आवाज सुनी और उनका संगठन करके प्रतिकार करने की कोशिश की। थोड़े ही समय में भील जनता पर उनका अद्‌भुत प्रभाव हो गया और मोतीलालजी की वाणी भीलों की वाणी बन गई। स्थानीय राजाओं पर इसका असर पड़ा। पर वे स्थिति का सामना करने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। इधर मोतीलालजी ने घोषणा कर दी कि "हुक्म और हासिल (कर) नहीं।" इस प्रकार यह आन्दोलन बड़े रूप में आगे बढ़ने लगा। एक बड़ी सभा में गोलियां चलीं और बारह सौ भीलों की नृशंस हत्या की गई। मोतीलालजी को भीलों ने बचा लिया और वह

सात-आठ वर्ष फरार रहे। इसके बाद देश स्वाधीन हुआ तबतक का समय उन्होंने प्रायः जेलों में ही बिताया।

इस प्रकार तरुण मोतीलाल साठ वर्ष का बूढ़ा बन गया। जवानी की सारी हविस तथा सुख-सुविधा प्राप्त करने के सारे साधन इस तपस्वी तरुण ने देशभक्ति की आग में होम कर दिये। लगातार तीस वर्षों तक यह आदमी या तो इधर-से-उधर भटकता रहा या जेलों में बन्द रहा। पर इस वीर तपस्वी के मन में कभी किसी प्रकार की कमजोरी नहीं आई। वह सचमुच तेजावत थे। उनकी वृत्ति में सच्ची तपस्विता थी, वाणी में तेज था और वह आन-बान के आदमी थे।

ऐसे देशभक्त का दर्शन सन् १९४० में उदयपुर में पूज्य जमनालाल-जी के साथ किया और उनके बारे में जाना और समझा एवं उस दिन से उनके प्रति एक सम्मानभरी श्रद्धा पैदा हुई। मोतीलालजी प्रचार से दूर रहते थे। वह तो आर्त्त और अत्याचार से पीड़ित लोगों के नेता थे। उनके सुख-दुःख में शरीक होने में तथा उनके प्रति होनेवाले अन्यायों का प्रतिकार करने में ही उनको सुख मिलता था।

गांधी-युग के पहले राजस्थान में जिन लोगों ने जागृति का काम किया, उनमें श्री अर्जुनलालजी सेठी, विजयसिंहजी पथिक, बाबा नृसिंह-दास, जयनारायणजी व्यास, केशरीसिंहजी बारहठ, चूरू के स्वामी गोपालदासजी आदि लोगों से मिलने और परिचय का मौका मिला था। डरवा के महाराज श्री गोपालसिंहजी का नाम भी सुना था। इन लोगों को लोकमान्य तिलक तथा अन्य उग्र नेताओं से प्रेरणा मिली थी। हो सकता है कि तेजावतजी ने भी इस युग से प्रेरणा प्राप्त की हो, पर तेजावतजी का पथ ऐसा था, जिसमें केवल शूल ही बिछे थे। तेजावतजी ने न फूल के दर्शन किये और न कल्पना की।

कुछ वर्ष पहले वह कलकत्ता आये थे, तब उनका स्वागत करके हमने एक सच्चे देशभक्त के स्वागत के सुख का अनुभव किया था। जब उनके निधन का समाचार पढ़ा तो ऐसा लगा कि एक ऐसा आदमी उठ गया, जिसने देश-भक्ति में तपते-तपते अपने-आपको गला दिया था और कुछ भी बदले में प्राप्त करने की इच्छा नहीं की। न वह एम० एल०

ए०, एम० एल० सी० या एम० पी० वने ग्रौर न उन्हें कोई राजकीय पद मिला। रहने के लिए घर नहीं ग्रौर कोई दूसरा साधन नहीं। इस स्थिति में सारी उम्र जवानी से बुढ़ापे तक वह तपते रहे ग्रौर "सुमन माल जिमि कण्ठ ते, गिरत न जानहि नाग," की भांति चले गये।

५ : जुगलकिशोर बिड़ला

सन् १९११ में मैं कलकत्ता ग्राया था। १८ मल्लिक स्ट्रीट, काली-गोदाम में ठहरा ग्रौर वहां वहुत दिन रहा। उन वातों को ग्राज ग्राधी शताब्दी से ग्रधिक हो गये। उन दिनों काली गोदाम में बलदेवदास जुगलकिशोर के नाम से ग्राज के विड़ला ब्रादर्स की फर्म थी। श्री जुगल-किशोरजी ग्रपनी उस गद्दी का संचालन करते थे ग्रौर काली-गोदाम में ही रहते थे। मुझे पहले-पहल वहीं उनके दर्शन का सौभाग्य मिला। परिचय उस समय नहीं हो सका, क्योंकि उस समय भी वह ग्रपने-ग्राप-में एक विशेष ग्रादमी थे। उनकी चर्चा रहती थी वहां काली-गोदाम में तथा समाज में। उन दिनों वह मारवाड़ी समाज के वड़े व्यापरियों में नहीं थे, पर उनके विचार, उदारता, नम्रता, सरलता, सादगी ग्रौर स्नेहशीलता की चर्चा रहती।

काली-गोदाम में जो गद्दियां थीं, उनके साथ वासा याने खाने-पीने का प्रवन्ध रहता। उस वासे में भोजन करने का दस से वारह रुपया महीना खर्च लगता। उस समय विड़लों की गद्दी का जो वासा था वह काली-गोदाम में सबसे ग्रच्छा माना जाता था। वासे में जीमनेवालों के लिए एक क्यारी होती थी। उसमें जीमते समय उस क्यारी को ग्वाला,[1] जो वहां वरतन मांजने ग्रादि का काम करता था, छू नहीं सकता था। जीमनेवाले को कोई चीज दी जाय तो वह विना छुए हल्के हाथ से ऊंचे से गिरा दी

१. बंगाल में मारवाड़ी-परिवारों के घरेलू नौकर को ग्वाला कहते हैं।

जाती, पर वावू जुगलकिशोरजी ऐसा न करते। वह उस ग्वाले को न तो अछूत मानते और न उसके साथ इस तरह का वर्ताव करते। वह कटोरी उसके हाथ से थाली में रखवाते या उसके हाथ से अपने हाथ में ले लेते। इस बात की चर्चा काली-गोदाम में हुआ करती कि जुगलकिशोर-जी ग्वाले का परहेज नहीं करते, यानी उसका छुआ खाते हैं। वात आज हँसी की-सी लगती है, पर उनके जीवन की झांकियों में झांकें तो उस समय की इस वहुत छोटी-सी वात में वे विचार नजर आते हैं, जो आगे जाकर हरिजन-आंदोलन या छुआछूत या सवर्ण-अवर्ण के विचारों में प्रकट हुए।

उस समय तक बंगाली समाज में ब्रह्म-समाज की स्थापना हो चुकी थी और उसका प्रभाव बंगाल में काफी वढ़ रहा था। ऐसे ही आर्य समाज के विचारों का भी प्रभाव पंजाब तथा उत्तर भारत में वढ़ रहा था। श्री जुगलकिशोरजी पर आर्य समाज की समाज-सुधार की बात का प्रभाव पड़ा था, पर आर्य-समाज की मूर्ति-पूजा-निषेध तथा अन्य वातों का प्रभाव उनपर नहीं था। उस समय वड़ा संघर्ष था—आर्य समाज और सनातन धर्म का। श्री जुगलकिशोरजी हर अच्छी बात, अच्छे आदमी, का आदर करते थे।

उदारता और नम्रता की तो वह साक्षात मूर्ति ही थे। मैंने उनके दादाजी की उदारता की बात सुनी है और उनकी तो सुनी भी और देखी भी। हो सकता है, उन्होंने अपने दादाजी, पिताजी से संस्कार लिये हों, पर उनमें एक ऐसी विचित्रता थी देने की कि न देने पर अकुलाहट होती। जिस समय उनके सट्टे में रुपया आता तो अकुला कर रुपये देते। ऐसे दो-चार उदाहरण तो मेरे सामने हैं कि मांगनेवाले ने कल्पना ही नहीं की कि इतना अधिक मिलेगा। वह चन्दा मांगनेवाले से या व्यक्ति-गत सहायता चाहनेवाले से पूछते कि कितने से काम चलेगा तो जितना वह बताता वह कहते, इतने से कैसे चलेगा, ज्यादा चाहिए ? यह सब उनके व्यक्तिगत गुण या स्वभाव की वातें हैं। एक लम्बे अर्से तक वह हमारे बीच रहे और अपनी उदारता और सद्भावना से समाज का हित-साधन करते रहे।

विड़ला मंदिर या और अनेक मंदिर या मंदिरों का जीर्णोद्धार आदि बातें तो प्रायः सबके सामने हैं और ये सब चीजें उनकी दानशीलता आदि बातों को प्रकट करती हैं, पर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन की छोटी बातों में अन्तरजीवन में ही सच्चा जीवन जीता है। उसका अंतर-जीवन, जिसको बाहर के लोग प्रायः नहीं जानते या जान नहीं सकते, वही उसका वास्तविक जीवन है। श्री जुगलकिशोरजी के उस जीवन की थोड़ी-बहुत झांकी जिनको मिली है वे जानते हैं कि वे अपने जीवन में कितने महान् थे। उनके दान का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा भी होता था, जिसको दाहिना हाथ दे तो बांया हाथ न जाने। हजारों आदमियों की आपद-विपद में उन्होंने सहायता की है, जिसको वे ही जानते हैं। ऐसे अनेक लोग हैं, जो उनके चले जाने से एक सहारा खो बैठे हैं।

६ : हकीमसाहब

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में इधर जो घटनाएं घटीं और हिन्दू-मुसलमानों ने जिस तरह के पागलपन और अमानुषिकता का परिचय दिया उसके हजारों उदाहरण हैं। पाकिस्तान के हिन्दुओं पर जो बीती या जिन तकलीफों और विपत्तियों का सामना उन्हें करना पड़ा, उन्हें या तो हम अखबारों के द्वारा जानते हैं या वहां से आये हुए लोगों की जबानी या वहां से आई हुई गलत या सही चिट्ठी-पत्री के द्वारा। पर हिन्दुस्तान में जो-कुछ हुआ यदि उसे हम देखना या समझना चाहते हों तो आसानी से ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वे हमारी आंखों के सामने से ही गुज़री हैं। हम उन्हें देख सकते हैं, समझ सकते हैं और अगर सही रास्ते पर चलें तो उन्हें रोका भी जा सकता है। जो-कुछ हुआ, उसके लिए हम पश्चात्ताप तो कर ही सकते हैं। पर दुख है कि ऐसा

होता नहीं, हुआ भी नहीं। यहां तो होड़ इस वात की लगी थी कि पाकिस्तान में हिन्दुओं पर जो-कुछ बीती उससे ज्यादा हमें यहां के मुसलमानों पर वितानी है। पाकिस्तान में अगर एक लाख आदमी वेघर-वार और वेरोज़गार हो गये हैं, तो हिन्दुस्तान में उसके वदले में दो लाख मुसलमानों को वैसा ही वना दें, तव तो वहादुरी है।

ऐसी स्थिति में जमीयत-उल-उलेमा के सेक्रेटरी मौलाना हिफजुर-रहमान साहव का एक तार कलकत्ते की उलेमा की शाखा के मन्त्री के पास आया, जिसमें लिखा था कि ढकुरिया के हकीम साहव वड़ी मुश्किल में पड़ गये हैं, आप जाकर उनकी खवर लें और उन्हें तसल्ली दें। जमीयत की कलकत्ता-शाखावाले उस मुसीवत में क्या करें, जवकि वे खुद ही मुसीवत में थे! उनके आफिस में दिन-भर फोन-पर-फोन और आदमी आते ही रहते थे और फरियाद करते थे कि अमुक वस्ती में आग लगी है, हमें वचाइए; अमुक जगह वम पड़ रहे हैं, हमें वचाइए; अमुक जगह से भागकर पांच हजार मुसलमान अमुक जगह आ गये हैं और वहां वे दो दिन से भूख के मारे विलविला रहे हैं, उनके साथ वूढ़े हैं, औरतें है और छोटे-छोटे मासूम वच्चे, खुदा के नाम पर इन सवके लिए जो-कुछ हो सकता हो, जल्द कीजिए, और कुछ न हो, तो फिलहाल खोई-चना ही भेजिए। हजारों आदमी जकरिया स्ट्रीट के उनके दफ्तर के नीचे खड़े थे और वरावर आनेवालों का तांता टूटता ही नहीं था, मानों विपद और आफत का एक विकट तूफान-सा आया हुआ था। जिन लोगों ने इन दृश्यों को देखा है, वे ही उनकी गहराई को जान सकते हैं। शायद ही कोई कवि या लेखक इनका सही चित्रण कर सके।

जव मैं उलेमा के दफ्तर में पहुंचा तो सेक्रेटरी साहव ने वह तार मुझे दिखाया और कहा, "ये निहायत नेक आदमी हैं और सारी उम्र कांग्रेस की खिदमत में ही गुजारी है। पर आज तो ये भी सिर्फ मुसलमान हैं और पाकिस्तान में मुसलमानों ने जो वदगुमानी की है, उसका वदला यहां के ऐसे मुसलमानों तक से लिया जा रहा है, इसके लिए आज मुसलमान होना-भर ही काफी है, फिर चाहे उसका पिछला रिकार्ड कैसा भी क्यों न रहा हो, और साहव, रिकार्ड को कौन जानता है!

आप ही वताइए कि हम क्या करें ?

"ऐसे नेक आदमी को वचाना वहुत जरूरी है, पर हमारी ताकत के तो यह वाहर की वात है; उन्हें वचाना तो दूर रहा, अगर वहां जायं तो खुद भी मारे जायं। आज तो किसीको मारने के लिए दाढ़ी और पाजामा ही काफी है।"

मैंने कहा कि यह तार और हकीमसाहव का पता आप मुझे दीजिए। मैं जाऊंगा और जो-कुछ होगा, आपसे आकर कह दूंगा। वह वोले, "पता तो वस यह तार ही है, रास्ता या मकान का नम्वर हम कोई भी नहीं जानते। हां, वह उस मुहल्ले के एक मशहूर आदमी जरूर हैं, शायद इससे पता आसानी से लग सके।"

मैंने तार ले लिया और अपने मित्र महावीरप्रसादजी पोद्दार के पास आया। वह तीन-चार दिन पहले ही भागलपुर से कलकत्ता आये थे। रास्ते में श्रीरामपुर से वेलूर तक उनके सामने ही पांच मुसलमानों को काट डाला गया था और वीच के लगभग हर स्टेशन पर मुसलमानों की लाशें पड़ी उन्होंने देखी थीं। इससे उनको इतना दुःख हुआ कि उन्होंने कलकत्ता पहुंचकर इसके प्रायश्चित्त-स्वरूप अनशन कर दिया और भगवान से प्रार्थना की कि वह इस वर्वरता का शीघ्र-से-शीघ्र अन्त करे। मैंने पोद्दारजी से कहा कि भाईसाहव, आप ही एक आदमी मिले हैं, जो मुसलमानों के दुःख-दर्द को भी आदमी का ही दुःख-दर्द समझते हैं। आज तो सवसे ज्यादा काम करने की जरूरत है। ऐसी हालत में उपवास करने से क्या होगा! यह कहकर वह तार उन्हें दिखाया और सारा किस्सा भी वताया। वह वोले—"चलो, चलें उस आदमी की खोज में।"

उनको उपवास के समय कहीं ले जाना मुझे ठीक तो नहीं लगा, पर उनका उत्साह और भावना खूव तीव्र थे। मैं उन्हें खूव जानता हूं, इसलिए कुछ न वोला। एक वार मेरे घर पर उन्होंने इक्कीस दिन का उपवास किया था और उस दौरान में बीस दिन तक वरावर काम करते रहे थे। हम दोनों ढकुरिया गये और वहां कई लोगों से हकीमसाहव का पता-ठिकाना जानने की कोशिश की, पर कोई फल न निकला। हम

लोग भटकते-भटकते हैरान हो गये। वहां कहीं किसी मुसलमान का नाम-निशान भी न दीखा और किसी हिन्दू से पूछते तो वह चौकन्ना होकर हमारी ओर देखने लगता और यही हालत दूसरे सुननेवालों की भी होती।

फिरते-फिरते हमें एक भला हिन्दू मिला। उसने कहा, "चलिए, मैं बताता हूं। पहले तो हम ज़रा सहमे, पर फिर उसके साथ हो लिये। हम लोग एक जगह गये, जहां एक मैदान में कुछ झोपड़ियां बनी दिखाई दीं। किनारे पर एक नया साइनबोर्ड लगा था, जिसपर लिखा था—"आदर्श नगर।" जब हम उस आदर्श नगर में पहुंचे, तो वहां के लोगों की शक्लों पर गुस्सा, क्षोभ और घृणा के भाव स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे। पहले तो हम ज़रा हिचके, पर फिर वह रास्ता पार किया और एक मकान के सामने आकर खड़े हुए। उस भले भाई ने कहा, "यही है हकीमसाहब का मकान।" दरवाजा बन्द था। हमने उसपर आहिस्ता-आहिस्ता दस्तक दी। दरवाजा खुला और एक सज्जन सामने आते हुए बोले, "कहिए, क्या काम है?"

हम सोच में पड़ गये कि क्या काम बतायें। फिर पूछा, "क्या यहां हकीमसाहब रहते हैं?"

उन्होंने कहा, "रहते थे।"

पोद्दारजी ने पूछा. "अब कहां चले गये?"

उन सज्जन ने रूखे स्वर में कहा, "ढाका।"

हमने सारी स्थिति भांप ली और वहां से सरक गये। इन शरणार्थी भाई ने इस मकान पर दखल कर लिया था और अब कोई इस मकान के बारे में बात करे, यह वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। हमें काफी निराशा हुई कि हकीमसाहब तो चले ही गये, अब क्या पता लग सकता है! फिर भी सोचा कि अगर कोई मुसलमान सज्जन मिलें तो उनसे भी पूछ देखें, पर वहां तो आसपास कहीं भी किसी मुसलमान की शक्ल दिखाई नहीं दी। हमने साथ आनेवाले भाई से पूछा कि यहां का मुसलमान मोहल्ला किधर है, शायद वहां कुछ पता लग सके। उन भाई ने कहा, "यही तो है यहां का मुसलमान मुहल्ला, पर सब मुसलमान भाग

जो गये हैं और उनके खाली मकानों पर शरणार्थियों ने कब्जा जमा लिया है, कुछ दस-पांच घर वचे होंगे, तो उनमें रहनेवालों का हौसला ही नहीं होता कि वाहर आवें।

पिछली तरफ हमें एक मुसलमान की-सी सूरत नजर आई और हम उसी ओर वढ़े। पास जाकर हमने उस भाई से पूछा कि क्या हाल-चाल है, तो वह डरा। जव हमने उसे समझाया तो तसल्ली हुई और वह अपनी वातें कहने लगा। हकीमसाहव का घर पास ही था, जो उसने हमें इशारे से वताया। मकान का दरवाजा वन्द था। हमने दस्तक दी तो किवाड़ खुले और एक सहमी-सी, डरी-सी, घवराई-सी शक्ल हमारे सामने आई, जिसको देखकर थोड़ी देर के लिए हम भी चकित-से रह गये। वहुत ही ज़ईफ, शरीर पर फटा-सा कुरता और तहमद, मुंह में एक-आध दांत, सामने छोटी-सी दाढ़ी, जिसके वाल सफेद होने के वाद ज़र्द हो चुके थे, झुर्रियों से भरा मुंह और झुकी हुई कमर। वड़े अदव से उन्होंने कहा, "आदावअर्ज। कहिए, कैसे मेहरवानी की ?"

हमने कहा कि हम हकीमसाहव से मिलने आये हैं। उन्होंने कहा, "खादिम ही को कहते हैं। आइए, आइए, तशरीफ रखिये।"

हम लोग भीतर गये और तार उन्हें दिखाकर सारे हालात वयान किये। वह वागवाग होकर वोले, "आपने वड़ी तकलीफ उठाई इस नाचीज़ के लिए। मैं तो आपका शुक्रिया अदा करने लायक भी नहीं। मैंने ही घवराकर मौलाना को तार कर दिया था। वह पुराने दोस्त हैं।"

वातों के सिलसिले में उन्होंने स्वदेशी युग की घटनाओं का ज़िक्र किया और वड़े गद्गद् स्वर में कहा, "वे भी दिन थे जव हमने राखी वांधी थी और कहा था, भाई-भाई भेद नाईं।" कई अन्य वातें वताने के वाद उन्होंने कहा, "आपने शायद मौलवी लियाकत हुसेन साहव का नाम सुना होगा, मैं उन्हींका शागिर्द हूं। उन्होंने ही मुझ-जैसे न जाने कितने नौजवानों को उन दिनों स्वदेशी की दीक्षा दी थी, पर दुनिया अपने मतलव की वातें याद रखती है, वाकी भुला देती है। आज मौलवी साहव का नाम लोग भूल गये हैं, उनकी सेवा और कुर्वानी भी भूल गये

हैं, पर वह सच्चे देशभक्त थे और अपने मादरे-वतन को आज़ाद देखने के लिए किसीसे कम ख्वाहिशमन्द नहीं थे। अंग्रेजों के तो वह पक्के दुश्मन ही थे और इसीलिए अंग्रेज सरकार उन्हें बार-बार जेल में डाल देती थी।"

मुझे भी मौलवी लियाकत हुसेन साहब की याद हो आई। जब लोकमान्य तिलक जेल में थे और देश लाल-बाल-पाल के नामों से प्रभावित था, तभी मैंने मौलवीसाहब का नाम सुना था और उनको देखने की इच्छा भी होती थी। पर मौलवीसाहब के नाम के साथ ही एक भय लगा हुआ था कि मौलवीसाहब से जो कोई मिलेगा तो खुफिया पुलिसवाले उसका नाम लिख लेंगे। उन दिनों खुफिया पुलिस का भय यमराज से भी ज्यादा था। बंगाल के जो आतंकवादी एक बार भी इलीशम रोड-वाले हेडक्वार्टर में जा आये हैं वही उन दिनों की खुफिया पुलिस के कारनामों और संदिग्ध व्यक्तियों को दी जानेवाली यातनाओं का कुछ परिचय दे सकते हैं। इसके बावजूद मौलवीसाहब से मिलने को तो जी ललचाता ही रहा। १९१७ में यह सुयोग मिल गया। उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था और श्रीमती एनी बेसेन्ट ने सभापति का आसन सुशोभित किया था। लोकमान्य तिलक और कर्मवीर गांधी भी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। कई मित्रों के साथ मैं भी कांग्रेस का स्वयंसेवक बना। आगन्तुकों में हमने एक ऐसे मुसलमान सज्जन को देखा, जो पाजामा और हरी कमीज पहने थे और जिन्हें लोगों ने बड़े आदर से मंच पर बैठाया। मैंने जब पूछा तो पता लगा कि यही मौलवी लियाकत हुसेनसाहब हैं। फिर तो मेरी खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा। एक साथ ही दो मुरादें पूरी हुईं—लोकमान्य तिलक और मौलवीसाहब के दर्शनों की। इसी अवसर पर मौलवीसाहब से थोड़ा परिचय भी हो गया और उनसे दो-चार बार मिलने और बातें करने का मौका भी मिला। जो कोई भी मौलवीसाहब के सम्पर्क में आता, वही अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन बन जाता। अंग्रेजी शासन और शोषण की वह ऐसी-ऐसी बातें बताते कि सुननेवाला उनसे प्रभावित हुए बिना न रहता।

हमारे हकीमसाहव ऐसे ही मौलवीसाहव के शागिर्द हैं। पर आज तो वह सिर्फ एक मुसलमान हैं, इसलिए हिन्दुस्तान में चैन-आराम से कैसे और क्यों रहें ? पाकिस्तान के लोगों ने हमारे हज़ारों-लाखों भाइयों को मुसीवत में डाल दिया है, फिर हम इनका वदला क्यों न लें ? पर वदले से ज्यादा तो यह एक आर्थिक सवाल है। जव लाखों हिन्दू पाकिस्तान से यहां आ रहे हैं, तव अगर वदले में मुसलमानों को नहीं निकाला जायगा, तो आनेवाले लोगों को हम कहां रखेंगे ? और फिर विना वदले के हमारे देश का आर्थिक ढांचा जो गड़वड़ा जायगा ! देश के आर्थिक ढांचे की वात सोचनेवालों की निगाह में वेचारे हकीमसाहव के फटे कुर्ते, सफेद दाढ़ी और चालीस वर्ष की कांग्रेस या देश की खिदमत का क्या मूल्य और महत्व हो सकता है ?

हकीमसाहव ने हमसे पूछा, "आप क्या राय देते हैं ? हम यहां रहें या क्या करें ? हम अपना घर और वतन छोड़ना नहीं चाहते, पर वीवी-वच्चे सव कांप रहे हैं यहां के हालात देख-सुनकर। आसपास के लोग चले गये हैं, जो दस-पांच घर वचे हैं, उनके लोग भी चले जाना चाह रहे हैं।"

हम लोगों ने कहा, "हकीमसाहव, पागलपन की जो हवा इस समय वह रही है, उसे देखते हुए कोई भी यह नहीं कहेगा कि आप यहां रहें और आप पर कोई आंच नहीं आयगी।" हकीमसाहव वीच में ही बोल उठे, "यहां के जो हिन्दू भाई हैं उनसे हमें कोई डर नहीं है। मैं आज भी यहां की कांग्रेस का वाइस-प्रेसिडेन्ट हूं। हमारे मंत्री मुझे यहीं रहने के लिए कह रहे हैं, पर वे भी आनेवाले शरणार्थियों से डर रहे हैं। हमारे एक भले हिन्दू साथी ने कहा कि अगर हमारा वस चले तो हम हकीमसाहव को ही न जाने दें। पर इन शरणार्थियों से डर लग रहा है कि कहीं ये हमारे घरों पर ही हमला न कर दें। अगर हम किसी मुसलमान को वचाने की कोशिश करें, तो हमारे भाई ही हमारे दुश्मन हो जायंगे।"

हकीमजी जिस हालत में थे, उसमें न मालूम दूसरे कितने और व्यक्ति भी होंगे और ऐसा ही पाकिस्तान में भी होगा। पर आज दोनों

ही जगह कोई आदमी किसीको बचाना और रखना चाहे तो भी रख नहीं सकता। अन्त में हमने हकीमसाहब से कहा कि अगर आप यहां रहकर मरने के लिए तैयार हों तभी आपको यहां रहना चाहिए। हो सकता है कि आप जैसे पाक लोगों की कुर्बानी से ही इन पागलों और अन्धों की आंख खुले। आपको यहां की हिन्दू और मुस्लिम जनता प्यार और आदर की दृष्टि से देखती है। अगर आपको भी साम्प्रदायिक दीवाने मार डालें तो, दूसरे ऐसे लोग भी होंगे जो इस जहर से मुक्त हों। उनको कुछ करने का मौका तो मिलेगा ही। आप तो ७५ वर्ष से ज्यादा के हो ही चुके हैं। आपका जीवन भी कुर्बानी का रहा है। अगर देश आपसे यह आखिरी कुर्बानी चाहता है, तो यह भी दीजिए।

उन्होंने कहा, "आप बजा फर्माते हैं, मैं यहीं रहूंगा। यहां जनमा हूं, यहीं मर भी जाना है। मेरे लिए मेरा यह वतन ही जन्नत है। दूसरी जगह जाना तो जीते-जी मरना है। और फिर बीबी-बच्चों और दवाइयों और सारे सामान को लेकर जाऊंगा भी कहां?"

पोद्दारजी की तरफ मुखातिब होकर मैंने कहा, "इन्होंने हावड़ा में अपनी आंखों से जो-कुछ देखा, उससे इनके दिल को ऐसा सदमा पहुंचा कि ये पिछले चार दिनों से फाका कर रहे हैं और खुदा से दुआ मांग रहे हैं कि लोगों की अक्ल ठिकाने आये। गांधीजी ने नोआखाली की प्रार्थना में नई धुन शुरू की थी, वह तो आप जानते ही हैं: ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान। वही धुन ये अपने मन में दुहरा रहे हैं।"

यह सब सुनकर हकीमसाहब गद्गद् हो गये और उन्हें गले लगा लिया। बोलने की कोशिश करने पर भी वह कुछ न बोल सके और उनकी आंखों से झरझर आंसू बहने लगे। ये पवित्र बूंदें कैसी थीं और हमें क्या कह रही थीं, उसे कौन सुने और कौन समझे? संभलने के बाद हकीमसाहब के मुंह से निकला, "या अल्लाह, तू भी खूब है! क्या-क्या कुदरत है तेरी!"

हम लोगों ने कहा, "हकीमसाहब, हम अपना पता-ठिकाना और टेलीफोन-नम्बर आपके पास छोड़े जाते हैं। कोई बात हो, तो किसी

तरह भी हमें खबर दीजिएगा। हमसे जो-कुछ वन पड़ेगा उसमें कमी नहीं रखेंगे। अच्छा, तो अब हमें इजाजत दीजिए। फिर मिलेंगे।"

उन्होंने कहा, "बड़ी तसल्ली मिली आपके यहां आने से। अगर मैं मरा तो भी बच गया, और बचा, तो भी बच गया।"

विदा होते समय दोनों हाथ जोड़कर मैंने कहा, "खुदा हाफिज़!" उन्होंने भी दोनों हाथ जोड़कर उसी तरह कहा, "खुदा हाफिज़!"

कुछ अविस्मरणीय प्रसंग

१ : दो लड़कियां

सन् १९३४ की बात है। हम लोग जमनालालजी के पास वर्धा गये हुए थे। पूज्य बापूजी सत्याग्रह-आश्रम में रह रहे थे। अबतक मगनवाड़ी और सेवाग्राम की स्थापना नहीं हुई थी। बापूजी के यहां रहने से जमनालालजी का अतिथिगृह मेहमानों से भरा रहता। देश के हर क्षेत्र के लोग बापूजी के पास अपने-अपने काम से आते ही रहते। इस तरह देश के विशिष्ट लोगों और कार्यकर्त्ताओं से मिलने का मौका मिलता तथा देश की नाना तरह की समस्याओं से जानकारी होती। फिर जमनालालजी के स्नेहशील स्वभाव का भी आकर्षण था। इसलिए मैं तथा मेरे परिवार के लोग वर्ष में एक-आध महीने वहां जाकर रहते थे। एक बार की एक घटना का वर्णन मैं करना चाहता हूं।

सुबह चार बजे हम लोग प्रार्थना करते। कुछ चुने हुए श्लोक और नामोच्चारण के बाद एक भजन गाया जाता। एक दिन भजन के समय जमनालालजी ने किसीको सम्बोधन करके कहा कि रामेश्वरी, तुम एक भजन गाओ न, तो उस बहन ने मीरा का एक भजन गाया। शायद भजन की टेक थी—सुनी री मैंने हरि आवन की आवाज। इस बहन का गला निहायत सुन्दर था और गाने का ज्ञान भी उन्हें अच्छा था। इसके साथ गानेवाली की तन्मयता ने एक समा बांध दिया और उस दिन की प्रार्थना आजतक स्मरण है। प्रार्थना समाप्त होने पर सब

कोई अपने-अपने काम में लग गये। मेरे मन में रहा कि यह वहन कौन है और यहां किस काम से आई है ? मैंने जमनालालजी से उन वहन का परिचय पूछा। वह वोले कि इनसे तो मैं तुम्हारा परिचय कराने-वाला ही था। ये कल ही आई हैं। इनकी मां और दो-तीन बहनें भी आई हैं। उन सबसे भी तुम परिचय करो। इनका नाम रामेश्वरी गोयल है। एम० ए० हैं, लेखिका हैं, कवयित्री हैं और गाना तो अभी सुना ही है। इलाहावाद में एक स्कूल की प्रधानाध्यापिका हैं। और बातें तुम स्वयं कर सकते हो। मेरा नाम और परिचय भी उन्होंने वता दिया। सब सुनने के बाद मेरी उत्सुकता वढ़ी, उनसे बात करने की। पर किसी अनजान महिला से बातें करने में स्वाभाविक संकोच तो होता ही है। उन बहन ने कहा कि आपका नाम मैं जानती हूं। खैर, दो एक दिन में ही हम लोगों की अच्छी घनिष्ठता हो गई। रामेश्वरीवहन की माताजी तथा बहनों से भी अच्छा परिचय हो गया।

श्री रामेश्वरीदेवी से संवंधित और वातों को छोड़कर मैं एक खास बात, जो इस लेख के लिखने का उद्देश्य है, लिख रहा हूं। रामेश्वरीजी की मां उनको लेकर यहां इसलिए आई थीं कि सेठजी (जमनालालजी) से परिचय हो जाने पर किसी योग्य आदमी से उनका विवाह कराने में वह मदद करें। जमनालालजी के पास नाना तरह की समस्याएं लेकर लोग आते थे और कुछको वापूजी भी भेजते थे। उन समस्याओं में इन विवाह-शादियों की समस्याओं का भी काफी हिस्सा था। इस बारे में जमनालालजी के जीवन के वारे में लिखना हो, तो उनके जीवन के इस विषय को छोड़ा नहीं जा सकता। एक व्यंग्यात्मक बात तो कह ही दूं। प्रभावतीबहन (श्री जयप्रकाशजी की पत्नी) उन दिनों ज्यादातर बापू-जी के पास रहती थीं। एक दिन वापूजी से बातें करके हम लोग वहां से उठे, तो प्रभावतीवहन साथ-साथ आईं और जमनालालजी से कहने लगीं कि काकाजी, अब आपको जमनालालजी न कहकर शादीलालजी कहना चाहिए; क्योंकि आजकल आप बहुत शादियां कराते हैं। शायद उस समय सोफिया खान की शादी की वावत वापूजी से बात चल रही थी, जो वम्बई की एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्री

(उस समय की सोफिया सोमजी) थीं और जिनकी शादी जमनालालजी ने ही डा० खान के बड़े लड़के सादुल्ला खान से कराई थी। इस सम्बन्ध को बापूजी ने बहुत पसन्द किया था। और भी लोगों ने इस सम्बन्ध के लिए जमनालालजी को बहुत शाबाशी दी थी। यह सब लम्बी बातें हैं।

रामेश्वरीजी से जमनालालजी ने विवाह के बारे में बातें कीं तथा जानना चाहा कि कैसे क्या वह सोच रहीं हैं? इसपर उन्होंने एक ही शब्द में कह दिया कि मैं अपनी मां के कहने से विवाह कर रही हूं, इसलिए इस बारे में मुझे कुछ कहना या सोचना नहीं है। जिसको मेरी मां पसन्द करे, वह मुझे पसन्द है; क्योंकि मैं मां को सन्तुष्ट करना चाहती हूं। मेरी मां का मुझपर बहुत उपकार है। उसने बहुत तकलीफ़ सहकर, बड़ी कठिनाइयों का मुकाबला करके मुझे लिखाया-पढ़ाया तथा आदमी बनाया है। अब मां मेरा विवाह करना चाहती है, तो मैं उसकी आज्ञा का पालन कर रही हूं। आज्ञा-पालन में अपना सवाल नहीं रहता। इसलिए मुझे कुछ नहीं कहना है, कुछ नहीं सोचना है।

बातें तो बहुत हुईं, पर उन्होंने तो एक ही बात कही कि जिसमें मेरी मां राजी हो, वही मुझे करना है। इन सब बातों का कम-ज्यादा रूप में वहां हम सबको पता लग ही गया। रामेश्वरीजी के हमउम्र लोगों में से, जो जमनालालजी के कुटुम्ब के थे, बहुत-से व्यंग्य भी करने लगे। श्रीमती जानकीबहन (जमनालालजी की पत्नी) ने मुझसे कहा कि यह लड़की तो खूब है! इतनी पढ़ी-लिखी, सब बातों को जाननेवाली, कहती है कि मुझे अपने विवाह के बारे में कुछ नहीं सोचना है; जो मेरी मां करे, वही मुझे मंजूर है! मैंने कहा कि जानकीबहन, मुझसे उसकी बहुत बातें होती हैं। उसकी विवाह करने की ही इच्छा नहीं है। वह तो समाज-सेवा, देश-सेवा करना चाहती है, पर वह यह मानती है कि मुझे अपनी मां को सन्तोष कराना है। उसकी इच्छा में अपनी इच्छा का समर्पण करना है। इसलिए वह कहती है कि मां जो करे, जो सोचे, उसमें मैं उज्र कैसे कर सकती हूं? जानकीबहन ने कहा कि अपनी ओम् तो बहुत बातें करनेवाली है ही। उसने रामेश्वरी को बहुत तंग किया, तो उसने यहांतक कह डाला कि मां मुझे किसी पत्थर के पले

में भी बांध दे तो मुझे कोई उज्र नहीं होगा। आज के जमाने में इतनी पढ़ी-लिखी, इतनी स्वतन्त्र रहनेवाली और स्कूल चलानेवाली लड़की इस तरह सोचे यह तो आश्चर्य ही है।

रामेश्वरीदेवी का विवाह हुआ और उसके कुछ ही दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने अपनी मां की इच्छा को पूरा किया, पर उनकी अपनी इच्छा उनके साथ ही चली गई।

... ...

एक दूसरी लड़की का चित्र देखिए, जो इसके बिलकुल विपरीत है। एक माता-पिता ने अपनी लड़की को जमनालालजी के पास भेजा कि इस लड़की को समझाइए कि यह क्या करने जा रही है। यह जिस लड़के से विवाह करना चाहती है, उसे हम लोग पसन्द नहीं करते। वह हमारे धर्म का नहीं, हमारी जाति का नहीं और हमारी बराबरी का नहीं। इस लड़के के साथ यदि इसका सम्बन्ध होगा, तो हम अपनी जाति में, समाज में, मुंह दिखाने लायक नहीं रह जायंगे। यदि आप इस लड़की को समझाकर इस लड़के से इसका मन हटा सकें, तो हमारा और इस लड़की का बड़ा उपकार होगा। आप हमारे पुराने मित्र हैं और देशसेवक हैं। हमें उम्मीद है कि लड़की आपकी बात मान लेगी।

लड़की वर्धा आई। हम लोग भी वर्धा में ही थे। जमनालालजी ने उस लड़की से मेरा परिचय कराया और उसकी सब बातें कहीं। बम्बई के उपनगर सान्ताक्रूज़ के आनन्दीलाल पोद्दार हाईस्कूल में लड़की पढ़ती थी। इस स्कूल में सहशिक्षा है। एक लड़के से लड़की की विवाह के बारे में बात हो गई और दोनों ने निश्चय कर लिया कि यदि विवाह करेंगे तो हम दोनों करेंगे, नहीं तो आजीवन क्वारे रहेंगे। लड़की जैनधर्मावलम्बी है, लड़का वैष्णव। लड़की के माता-पिता धनी हैं, लड़का साधारण स्थिति का। लड़की वैश्य है, लड़का शायद और जाति का। लड़की ने आई० ए० में पढ़ना छोड़ दिया, लड़का एम० ए० है। लड़की के माता-पिता बिलकुल नाराज़ हैं, इस लड़के से विवाह करने में। लड़की किसी तरह राजी नहीं होती। वह कहती है कि मैं

तो इसी लड़के से विवाह करूंगी।

जमनालालजी ने लड़की से बातें कीं और कहा कि तुम्हें अपने माता-पिता की बात माननी चाहिए। वे जो-कुछ करेंगे, तुम्हारे भले के लिए ही करेंगे। फिर वह लड़का तो तुम्हारे धर्म और जाति का भी नहीं है तथा गरीब भी है। तुमने धनी घर में जन्म लिया है। तुम बहुत लाड़-प्यार से पाली-पोसी गई हो। तुम्हें धनी घर का लड़का मिल सकता है, जिसके साथ तुम आराम से रह सकोगी, आदि-आदि बहुत-सी बातें उन्होंने लड़की को समझाईं। लड़की चुप रही और उसकी आकृति से प्रकट हो रहा था कि वह जमनालालजी की बातों से बहुत दुखी हो रही है। जमनालालजी ने कहा कि मेरी बातों पर विचार करो। उस लड़के से तुम्हारा प्रेम है; पर उसके घर में जाकर तुम्हें न रहने को बंगला मिलेगा, न चढ़ने के लिए मोटर मिलेगी, न पहनने को अच्छे कपड़े और जेवर भी नहीं मिलेंगे। काम भी सारा हाथ से ही करना होगा। इससे तुम्हें तकलीफ़ होगी। आज तुम्हें इनसब बातों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। हो सकता है, वस्तुस्थिति का सामना करना पड़े तो तुम अपने मन में निराश और दुखी होओ। फिर तुम्हारा सम्बन्ध मधुर नहीं रह सकता, जिसकी आज तुम कल्पना कर रही हो। लड़की चुप-चाप ज़मीन कुरेदती सब सुनती रही। जमनालालजी ने फिर कहा कि ये सब बातें मैं तुम्हारे पिता की तरफ से नहीं कह रहा हूं, अपनी तरफ से कह रहा हूं और तुम्हारे लिए कह रहा हूं।

अब लड़की का मौन भंग हुआ। उसने कहा, "ताऊजी, आपने मुझे बचपन से देखा है। मैं समझने लगी तबसे आप पर श्रद्धा करती आ रही हूं। आप क्या कह रहे हैं, मैं समझ नहीं पाती। आप कहते कि लड़का मूर्ख है, पढ़ा-लिखा नहीं है, स्वस्थ नहीं है या चरित्र का अच्छा नहीं है, तो मैं सोचती और आपकी आज्ञा से तथा माता-पिता की आज्ञा से ही चलती। पर आप लोग तो कहते हैं, वह तुम्हारे धर्म का नहीं है, तुम्हारी जाति का नहीं है, गरीब है। ताऊजी, इसकी क्या गारंटी है कि अन्य धनी लड़के के साथ आप लोग मेरा विवाह कर देंगे, तो वह बराबर धनी ही रहेगा और यह लड़का सदा गरीब ही

रहेगा। फिर यह भी सोचने की बात है कि बहुत धन से धनी का क्या लाभ हो रहा है ? धनी जिस विलास का, प्रमाद का जीवन जीता है, वह तो मेरी निगाह में समाज के लिए घातक ही है। यदि मोटर और बंगले की चाह होती तो मैं ऐसे लड़के को पसन्द ही क्यों करती ? मैं तो मानती हूं कि आदमी की साधारण जरूरत पूरी हो जाय, तो उसे समाज में विषमता क्यों फैलानी चाहिए। एक तरफ बहुत-सा ढेर लगेगा, तो दूसरी तरफ गड्ढे का होना स्वाभाविक है। गड्ढे और ढेर का रास्ता कोई अच्छा रास्ता नहीं। इस रास्ते चलने में चलनेवाले को कोई आराम या सुख नहीं मिलता। समतल रास्ते पर ही चलने में सुख मिलता है। ताऊजी, मुझे माफ करें, मेरी धृष्टता बहुत बढ़ गई। मुझे आपको ये सब बातें नहीं कहनी चाहिए थीं। मैं आपसे यह प्रार्थना करती हूं कि आप पिताजी को समझा दें। मुझे आपका और उनका आशीर्वाद चाहिए।"

जमनालालजी ने कहा, "तुम्हारी बातें मुझे अच्छी लगीं। मैं तो तुम्हारे मन की हालत जानना चाहता था। तुम्हारी दृढ़ता का पता लगाये बिना मैं तुम्हारे पिता को क्या राय देता ?"

उन्होंने लड़की के पिता को लिख दिया कि मैंने सुलोचना से बातें कीं और उसको समझाने-बूझाने की चेष्टा भी की। मेरी सलाह है कि लड़की जिस लड़के से विवाह करना चाहती है, उसीके साथ विवाह करने में भलाई है। हमें यह सोचना चाहिए कि हम लड़कियों को स्कूल-कालेजों में पढ़ायेंगे और बड़ उम्र में उनकी शादी करेंगे तो फिर वे बिलकुल हमारी ही इच्छा से शाद करें, यह न तो सम्भव है और न उचित ही।

लड़की बम्बई चली गई। माता-पिता ने लाचार होकर लड़की की इच्छानुसार विवाह करना मंजूर किया। पर लड़की से उन्होंने कहा कि हम तुम्हें एक पैसा भ नहीं देंगे और विवाह के बाद तुम्हारा हम लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। तुम इस घर में बिलकुल आ भी नहीं सकोगी। लड़की ने विनय के साथ कहा कि आपकी पहली बात तो बिलकुल सही है। जब मैं आपकी आज्ञा नहीं मान रही हूं, तो

आपसे पैसा या किसी तरह की सहूलियत कैसे चाह सकती हूं ? पर आपसे मेरा सम्बन्ध कैसे छूट सकता है ? मैं आपके घर में जन्मी हूं। आपके रक्त-मांस से बनी हूं। आप सबको मैं कैसे भूल सकती हूं ? आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं घर में आकर आपके दर्शन कर सकूं. मां और भाई-बहनों से मिल सकूं। पिताजी, मैंने अपनी जान में कोई अन्याय नहीं किया है। मैं किसी लोभ और प्रलोभन की इच्छा से यह नहीं कह रही हूं। क्या इसके लिए आप मुझे क्षमा नहीं करेंगे ? क्या आप मेरा यह अधिकार भी छीन लेंगे कि मैं आपको तथा घर के और लोगों को देख भी न सकूं ? पर पिता का क्रोध शान्त नहीं हुआ। विवाह हो गया। पिता ने सख्त मनाही कर दी कि सुलोचना अब से घर में न आने पावे।

लड़की बम्बई के उपनगर दादर में दो कमरों का एक छोटा-सा फ्लैट लेकर रहने लगी। उसका पति लिखा-पढ़ा, स्वस्थ, मेहनती और ईमानदार था। इसलिए तुरन्त उसको काम मिल गया और पति-पत्नी दोनों आनन्द से रहने लगे।

ए० आई० सी० सी० की मीटिंग में शामिल होने के लिए मैं बम्बई गया। वहां देखा कि सुलोचना देशसेविका बनी केसरिया साड़ी और हरा ब्लाउज पहने काम कर रही है। बहुत ही खुश, स्वस्थ, प्रसन्न दिखाई पड़ती थी वह। बड़ी खुशी हुई उसे देखकर। उससे मिलने की, बातें करने की इच्छा का होना तो स्वाभाविक ही था। पहला प्रश्न मैंने उससे यह किया कि पिताजी के दिल को तुम जीत सकीं कि नहीं ? उसने कहा कि जीत तो सकी, पर बहुत तपश्चर्या करनी पड़ी उनको राजी करने के लिए। सारी बातें बताने के लिए कहने पर उसने घर आने का निमन्त्रण दिया और वहीं पर बातें करना तय किया।

दूसरे दिन शाम को मीटिंग खत्म होने पर मैं उसके साथ ही उसके घर गया। छोटा-सा घर था, पर बहुत साफ-सुथरा, सुन्दर, व्यवस्थित मालूम हो रहा था। उसके पति भी आ गये। उनसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। थोड़ी देर की बातचीत से ही वह एक अच्छे विचार के युवक हैं, यह मालूम होने लगा। यह भी पता लगा कि दम्पति बड़े प्रेम

से रहते हैं तथा अपनी सामाजिक और सार्वजनिक जिम्मेदारियों का ज्ञान रखते हैं। सुलोचना भगिनी-समाज की मन्त्रिणी है। ए० आई० सी० सी० की मीटिंग के लिए भगिनी-समाज से बीस देशसेविकाएं काम करने के लिए जाती हैं, आदि-आदि बातें भी हुईं। पर मेरी इच्छा सुलोचना के पिताजी के समाचार जानने की ज्यादा थी।

सुलोचना ने बताया कि मैं मां और भाइयों से मिलती थी। वे भी कभी-कभी मेरे पास आ जाया करते थे। पर पिताजी के पास जाने और उनसे मिलने की मेरी हिम्मत नहीं होती थी। मां से मुझे मालूम होता था कि पिताजी का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ। मां पहले तो नाराज़ थीं, पर बाद में आहिस्ता-आहिस्ता राजी हो गईं। भैया तो मेरे विचारों के ही थे, पर वह पिताजी को कुछ कह नहीं सकते थे। पिताजी की नाराजगी का असर हमारे सारे कामों पर रहता था। हम लोग अपने-आपमें सुखी हैं, आप देख ही रहे हैं। पर पिताजी को राजी न कर सकने की वेदना मेरे दिल में बनी रहती थी। अचानक वह बीमार पड़े और अपने जुहू के बंगले पर जाकर रहने लगे। जब यह समाचार मिला तो मुझे बड़ी चिन्ता हुई और मैं सोचने लगी कि ऐसी हालत में भी, जब वह बीमार हों तब भी, मुझे उनके क्रोध या नाराजगी के डर से उनके पास नहीं जाना चाहिए? मैंने तय किया कि चाहे जो हो, मैं उनके पास जाऊंगी और उनकी सेवा करूंगी। पिताजी मेरा यह अधिकार नहीं छीन सकते कि मैं बीमारी में उनकी सेवा भी न कर सकूं। मैं जुहू गई और पिताजी के पैरों से चिपट गई। मैं बोल तो नहीं सकी, पर मेरे लाख कोशिश करने पर भी मेरे आंसू नहीं रुक सके। पिताजी भी चुप रहे। कुछ देर में मेरे दुःख का आवेग कम हुआ, तो मैंने कहा, "पिताजी, मुझे माफ कर दीजिए।" उनका भी गला भर आया और उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा। न मालूम पिताजी ने कितनी बार मेरे सिर पर हाथ रखा था, कितने प्यार से, कितने दुलार से उन्होंने मुझे पुचकारा था, पर सच कहती हूं, पिताजी के आज के सिर पर हाथ रखने में जिस सुख, जिस शान्ति और जिस प्यार का अनुभव हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। मां भी

पास ही थीं। उनकी आंखों में भी आंसू थे। भैया भी आ गये। भाभी भी आ गईं। मेरे सारे परिवार के लोग आज करीब दो वर्ष के बाद इस तरह मिले। इसकी खुशी का वर्णन मैं आपसे कर नहीं सकती। उस दृश्य को याद करने में, आपसे कहने में जो खुशी हो रही है उसका तो आप स्वयं अनुभव करते होंगे। मैंने इनको फोन से खबर की, तो ये भी बहुत खुश हुए। पिताजी तीन-चार महीने बीमार रहे। मैं बराबर उनके पलंग से लगी रही। रात में, दिन में, बराबर उनकी सेवा करती रही। मैं भगवान से प्रार्थना करती थी कि मैंने पिताजी की आत्मा को जो कष्ट दिया है उसका प्रायश्चित्त मैं अपनी सेवा द्वारा कर सकूं। इन तीन-चार महीनों में पिताजी से काफी बातें करने का मौका मिला। वह विचारों से तो कम-ज्यादा रूप में हम लोगों के विचारों के कायल थे, पर उनमें वह साहस नहीं था, जो एक युवक में, एक युवती में, होता है। यह स्वाभाविक भी है। जब पिताजी अच्छे होकर बम्बई जाने-आने लगे, तब मैं घर आई। आज हम लोगों का पिताजी के साथ मधुर सम्बन्ध है। अब पिताजी के विचारों में काफी परिवर्तन भी हो गया है और वह मुझे पहले से भी ज्यादा प्यार करते हैं।

सचमुच आज मुझे भी बड़ी खुशी हो रही है। सुलोचना के यहां से लौटते समय मैं रास्ते में सोच रहा था कि सच्चाई एक ऐसी चीज़ है, जो अपने-आप प्रकट होती है। सुलोचना ने अपनी सच्चाई से, अपने त्याग से, पिता का दिल जीता है। आज जो युवक और युवती समाज में क्रान्ति करना चाहते हैं, उनके लिए सुलोचना की कहानी एक अच्छा उदाहरण है, जिसकी आज निहायत ज़रूरत है। आज के युवक यह जात-पांत के, धर्म के और रूढ़ि के बन्धन मान नहीं सकते, मानना चाहिए भी नहीं; पर उनको अपनी विनय, अपना शील नहीं छोड़ना है। सिद्धान्तों की रक्षा के लिए हमें सब-कुछ सहना होगा। हमारे कष्ट, हमारी वेदना, हमारा त्याग, हमारे कार्यों में बोलना चाहिए। हमें किसी भी हालत में समर्पण नहीं करना है, उद्दण्ड भी नहीं होना है। यह सोचते-सोचते मैं अपने-आप में खो-सा गया। सुलोचना सुखी रहे, यह प्रार्थना है।

२ : निर्मला की मां

हमारे विद्यालय में महिलाओं की सभा थी। अनेक महिलाएं आई थीं सभा में। यह सभा शायद शारदा कानून का समर्थन करने के लिए उसके समर्थकों ने आयोजित की थी। सभा समाप्त होने पर एक बहन मुझसे मिलने आई—निहायत सुन्दर, उम्र लगभग २५ की, गौर वर्ण, पुष्ट शरीर, हँसीभरा मुख। मैंने उसको नमस्कार किया और पूछा, "कहो, बहन ?"

वह बोली, "मेरी लड़की आपके स्कूल में पढ़ती है।"

मैंने पूछा, "क्या नाम है ?"

"निर्मला।"

"आप निर्मला की माताजी हैं ?"

"जीहां।"

"निर्मला तो बहुत अच्छी लड़की है।"

"मैंने सोचा, यहां आई हूं तो आपसे मिलती चलूं। निर्मला आपके बारे में कहा करती है कि हमारे मंत्री हमें बहुत बातें बताया करते हैं।"

उन दिनों हिन्दी भाषा भाषी लड़कियां पांचवें दर्जे से ज्यादा नहीं पढ़ा करती थीं। मैं कोशिश किया करता था कि लड़कियों के अभिभावक अपनी लड़कियों को ज्यादा पढ़ायें। इसीके अनुसार मैंने उस बहन से भी जब यह कहा कि आप निर्मला को ज्यादा दिन तक पढ़ाइयेगा तो उसके चेहरे पर मैंने जो भाव पढ़े, वे मुझे आज भी याद हैं।

उसने कहा, "देखिये।"

मैंने कहा, "देखिये नहीं, उसको हम स्कूल नहीं छोड़ने देंगे।"

"अच्छी बात है, यह आपकी बड़ी कृपा है।" कहकर वह चली गई।

दूसरे दिन निर्मला से मैंने कहा, "कल तुम्हारी मां मिली थीं। मैंने उनसे कह दिया है कि वह तुम्हें खूब पढ़ावें।"

निर्मला ने कहा, "मां ने मुझे बताया था, मंत्रीजी।"

निर्मला सुन्दर मां की सुन्दर लड़की थी। बड़े अच्छे स्वभाव की, क्लास में तेज, मिलनसार और स्कूल के सारे कामों में उत्साह से भाग लिया करती थी, इसलिए वह हमारी विशेष प्यारी लड़कियों में से थी। जब वह पांचवीं से छठी श्रेणी में गई तो उसमें पहलेवाली स्फूर्ति नहीं दिखाई दी। मैंने कई बार उससे पूछा, पर उसने कुछ नहीं बताया। अन्त में मैंने उससे कहा कि तुम अपनी मां से कहना, एक बार वह मुझसे मिल लें। पर निर्मला की मां मुझसे मिलने नहीं आईं। दो-एक दिन बाद मैंने निर्मला से पूछा, "तुम्हारी मां आईं नहीं, क्या तुमने उनसे कहा नहीं था ?"

"कहा तो था, मंत्रीजी।"

"तो फिर क्यों नहीं आईं ? पहले तो वह स्वयं मुझसे मिला करती थीं।"

निर्मला ने कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने कुछ ज्यादा पूछना-कहना ठीक नहीं समझा।

लेकिन निर्मला की मां तो आई नहीं और वह दिन-पर-दिन कमजोर, सुस्त और ढीली दिखाई देने लगी। उसका फूल-सा मुंह कुम्हलाया-कुम्हलाया रहने लगा। दो-एक बार फिर पूछने पर भी उसने कुछ नहीं बतलाया। अन्त में एक दिन मैं निर्मला के साथ उसके घर गया। वह बड़ी डरती-डरती मुझे अपने घर ले जा रही थी। मुझे एक जगह खड़ा करके उसने कमरे में जाकर मां से कहा कि मन्त्रीजी आये हैं। यह सुनकर वह बाहर आईं और नमस्कार करके मुझे भीतर चलने के लिए कहा। मैं उनके चेहरे की ओर आश्चर्य से देख रहा था। वह बोलीं, "आपने क्यों तकलीफ की ? निर्मला ने तो कहा ही था कि आपने मुझे बुलाया है।"

मैंने बीच ही में रोककर कहा, "यह मैं क्या देख रहा हूं, आप इतनी कमजोर कैसे हो गईं ?"

एक कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए उन्होंने भर्राई हुई आवाज़ में कहा, "मन्त्रीजी, हमारा भाग्य ही ऐसा है।" इसके बाद तो वह

सिसकियां भरकर रोने लगीं। मैं कुछ समझ तो न सका, पर उनकी हालत से मेरा भी दुखित होना स्वाभाविक ही था। दो-चार मिनट वाद दुःख का आवेग कुछ कम हुआ और उनकी हालत कुछ बोलने लायक हुई। मैं सोच ही रहा था कि कोई-न-कोई ऐसी वात हुई है, जिसे कहने में इनको संकोच हो रहा है। वह बोलीं, "निर्मला के वावूजी पकड़े गये और जेल में हैं। उनकी तवीयत भी अच्छी नहीं है।"

मुझे संकोच तो वहुत हुआ, फिर भी मैंने पूछा, "क्या वात हुई, क्यों पकड़े गये ?"

"यह तो मैं नहीं जानती, वह वैंक में काम करते थे, वहां कुछ गोलमाल हुआ वताते हैं; वह ऐसे आदमी नहीं हैं, मन्त्रीजी, पर हमारा नसीव खोटा है।" मैंने उनको धीरज रखने और छूट जाने आदि की वात कही। वह वोलीं, "यदि आप लोगों और ईश्वर की कृपा रही, तो वह छूट जायंगे।"

मैंने कहा, "वहन, इन सव वाधाओं से निर्मला की शिक्षा में वाधा नहीं पड़ने देनी चाहिए।"

वह वोलीं, "अव तो निर्मला ही मेरा सहारा है, आपके हाथ है इसकी शिक्षा; मेरा जो कुछ होनेवाला है, वह तो होगा ही, पर निर्मला को आप आदमी वना देंगे तो मैं आपका उपकार कभी नहीं भूलूंगी; मेरे भाग्य तो ऐसे ही थे, इस लड़की को भगवान् सुखी रखे और वह अपने पैरों पर खड़ी होने लायक वन जाय, यही मेरी चाह है।"

"मेरे लायक कोई काम हो, तो निर्मला द्वारा मुझे कहला देने में संकोच न करें; विपत्ति में तो हिम्मत से ही काम चलता है, निर्मला के पिताजी आ जायंगे"—यह कहकर मैं वहुत ही दुखित मन से खड़ा हुआ। मेरा मन तो भारी था ही, पैर भी इतने भारी हो गये थे कि वहां से चलने में उठ ही नहीं रहे थे।

प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा, "हम किसीको मुंह दिखाने लायक नहीं रहे।"

फिर वह खड़े होने की कोशिश करने लगीं। मैं देख रहा था उनके शैथिल्य को। वह गुलाव के फूल-सी वहन आज निस्तेज, क्लान्त, क्षीण

ग्रौर झड़े हुए पत्तों की डाल-सी लग रही थीं।

मैं निर्मला से बराबर उनका हाल-चाल पूछता रहता। मुकदमा चल रहा था। काफी रुपये खर्च हो गये। निर्मला की मां के पास जो थोड़ा-बहुत जेवर था, वह भी खतम हो गये। ग्रन्त में ग्राठ महीने के बाद निर्मला के पिता उस मामले में निर्दोष साबित हुए। पर ग्रब वह इतने थक गये थे कि कहीं काम करना नहीं चाहते थे। पहले भी उनका स्वास्थ्य ग्रच्छा नहीं था, ग्रब तो बिल्कुल ही खराब हो गया था। ग्रार्थिक दशा शोचनीय हो गई थी। ग्रन्त में निर्मला की मां ने एक स्कूल में नौकरी करना तय किया। वह ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं, पर सिलाई ग्रच्छी जानती थीं। बहुत ही कठिनाई से काम चल रहा था। ग्रब निर्मला किसी तरह स्कूल में पास हो जाती थी, पहले की तरह क्लास में फर्स्ट नहीं होती थी। जब कभी मैं निर्मला की मां से मिलता तो वह कहतीं कि ग्रब तो मेरी यदि कोई इच्छा है ग्रौर जो कुछ मैं कर रही हूं, वह निर्मला को लिखा-पढ़ाकर ग्रपने पैरों पर खड़ी करने के लिए ही कर रही हूं।

एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा, "निर्मला को डाक्टरी पढ़ाना कैसा रहेगा?"

मैंने कहा, "ग्रच्छा तो है, पर रुपया बहुत लगेगा, क्योंकि डाक्टरी पढ़ने में खर्च ग्रधिक होता है ग्रौर समय भी ज्यादा लगता है।"

"मैं किसी कष्ट की परवा नहीं करती। मैं चाहती हूं कि निर्मला किसीकी मोहताज न रहे। वह सम्मान का, स्वावलम्बन का ग्रौर सेवा का जीवन जीये। मैं ट्यूशन ग्रादि करके किसी तरह काम चला लूंगी, पर निर्मला को सफल देखना चाहती हूं। उसके पिताजी तो ग्रब शायद ही कुछ कर सकें।"

निर्मला मैट्रिक पास करके कालेज में ग्राई० एस-सी० में भर्ती हो गई। स्कूल में तो खर्च साधारण था, ग्रब किताबों का, फीस का तथा ग्रन्य खर्च भी बढ़ा। निर्मला की मां स्कूल के काम के बाद ट्यूशन करती थीं। ग्रब वह ग्रक्सर मुझे ग्राते-जाते ग्रपना सिलाई का झोला लिये मिल जाया करतीं। वह बड़ी कठिनाई से ग्रपना काम चला रहीं

थीं, फिर भी उन्हें दीनता का भाव छू तक नहीं गया था। वह न तो किसीसे सहायता मांगती थीं और न यही चाहती थीं कि कोई उनकी आर्थिक सहायता करे। वह यदि कुछ चाहती थीं तो बस सहानुभूति, जिससे वह इस दुःख की नाव को खेकर पार उतार सकें। निर्मला किसी तरह आई० एस० सी० में पास हुई, पर डिवीजन अच्छा नहीं ला सकी, इसलिए डाक्टरी में भर्ती होने में कठिनाई होने लगी। यों भी मेडिकल के छात्रों के लिए जगह की कमी का सवाल रहता ही है। निर्मला डाक्टरी में भर्ती न हो सकेगी, यह उसकी मां ने सोचा ही नहीं था। इसलिए वह इतनी दुखी और निराश दिखाई दीं, जैसी पहले कभी नहीं हुई थीं। उन्हें रोती देख मैं कांप उठा। मैंने बड़ी कोशिश की और बड़ी मुश्किल से निर्मला मेडिकल कालेज में प्रवेश पा सकी। अभी तो ६ वर्ष पड़े थे डाक्टरी पास करने के लिए। फिर भी उसकी मां किसी तरह यह बोझा ढोये जा रही थी। पर इस बोझ से वह ऐसी दब गई थीं कि पैंतीस वर्ष की उम्र में पचास की-सी लगने लगीं। बाल सफेद होने लगे। दो-एक दांत भी गिर गये। वह सुबह ५ बजे से रात के १०-११ बजे तक अथक परिश्रम कर रही थीं। उनके सामने सिर्फ एक ही लक्ष्य था निर्मला को डाक्टर बनाना। बीमार पति की तीमारदारी, घर का काम, स्कूल में पढ़ाना, ट्यूशन पर जाना, जो कुछ मिले उसमें से निर्मला का खर्च निकालकर बचे हुए में काम चलाना—इस तरह वह बहुत मूक तपश्चर्या कर रही थीं, समाज के एक घर में एक कोने में जिसको शायद बहुत कम लोग जानते थे।

निर्मला मेडिकल फाइनल वर्ष में थी। एक आपरेशन में वह सहायक के रूप में लगी थी। वह कुछ सामान लाने नीचे जा रही थी कि सीढ़ी पर पैर फिसल जाने से गिर पड़ी और घुटने के बीच की हड्डी टूट गई। हड्डी जोड़कर प्लास्टर किया गया। दो महीने तो बिछौने पर बीते ही, पर जब एक्स-रे करके देखा गया, तो मालूम हुआ कि पैर के साथ की हड्डी में बोन टी० बी० हो गई है। यह बात निर्मला की मां से कुछ दिन छिपाने की कोशिश की गई। इस बीमारी में तो लम्बा समय लगनेवाला था। मरे को मारे शाह मदार। इस

वार निर्मला की मां मिली। मैंने उनको उदास देखकर पूछा, "वहन, अव तो दो-चार महीने की वात हैं, निर्मला पास कर लेगी, तो तुमको इतना संकट नहीं रहेगा।"

वह वोलीं, "भाईजी, यह होगा ? भगवान न जाने हमारे भाग्य में क्या-क्या लिखा है !" यह कहते हुए वह वहुत ही अस्थिर लगीं। मैंने जव उनसे सहायता की वात की तो वोलीं, "आपकी कृपा से किसी तरह निभ रहा है। जव जरूरत होगी, तो कहूंगी।"

मैंने कहा, "निर्मला, आपकी जैसी ही मेरी भी लड़की है। क्या मेरा उसके लिए कोई अधिकार या कर्तव्य नहीं !"

इस पर वह कहने लगीं, "आप हमें आशीर्वाद दीजिये, हमारे लिए प्रार्थना कीजिये कि हम अपना मार्ग तय कर सकें।"

मैं सोचने लगा कि मैं किसी मानवी से वात कर रहा हूं या किसी देवी से ! मैंने मन-ही-मन उस वहन को नमस्कार किया। निर्मला आहिस्ता-आहिस्ता अच्छी हो रही थी। उसके सरल स्वभाव तथा निर्दोष व्यवहार से कालेज के डाक्टर आदि प्रभावित थे। वे पूरी तरह उसके इलाज की व्यवस्था कर रहे थे।

निर्मला कालेज जाने लगी। उसका एक वर्ष तो नष्ट हो ही चुका था। इस वर्ष भी वह सर्जरी व्यावहारिक ज्ञान में कुछ नम्वरों से फेल हो गई। इसका सभी लोगों को वहुत दुःख हुआ। पर उपाय क्या था? निर्मला को तो इतनी निराशा हुई कि वह पढ़ना ही छोड़ देना चाहती थी। उसके साथ की लड़कियां प्रेक्टिस कर रही थीं, और वह योंही अपनी मां का भार वनकर पढ़े, यह उसे वर्दाश्त न था। पर उसकी मां निराश नहीं थी। उसने निर्मला को प्रोत्साहन देते हुए कहा, "मुझे किसी भी दुःख की परवा नहीं है। यदि तुम पास न कर सकीं या डाक्टरनी न वन सकीं, तो मैं जी न सकूंगी। क्या तुम मेरे सारे जीवन की साघ नष्ट करना चाहती हो ? चाहे जितना भी रुपया लगे, चाहे फिर फेल हो जाओ, पर तुम्हें डाक्टरनी वनना ही होगा।"

निर्मला ने फिर पढ़ना शुरू किया और उसकी मां एक घर से दूसरे, दूसरे से तीसरे घर में ट्यूशन करती रही। उसे न अपने शरीर

का ख्याल था, न किसी सुख-दुःख का। उसके सामने तो बस एक ही लक्ष्य था निर्मला को डाक्टरनी बनाना। वह चाहती थी कि निर्मला समाज के सामने इज्जत का, स्वावलम्बन का और सेवा का भला जीवन बितावे।

इस वर्ष निर्मला सभी विषयों में पास हुई और उसे छः महीने के लिए अपने कालेज में हाउस सर्जन का काम मिला। निर्मला को लेकर वह बहन मेरे पास आई। मैं महिलाओं का एक अस्पताल चलाता था। उन्होंने कहा, "भाईसाहब, आपकी निर्मला ने एम० बी० पास किया है। मेरी जिम्मेदारी तो पूरी हो गई, अब मैं इसे आपको सौंप रही हूं।" यह कहते हुए उनका गला रुंधा जा रहा था।

मैंने कहा, "बहन, आपकी तपश्चर्या पूरी हुई। आपको तो प्रसन्न होना चाहिए।"

उन्होंने कहा, "मैं प्रसन्न तो हूं, पर अब मैं ऐसी थकावट अनुभव कर रही हूं, जो मिट नहीं सकती। मैं चली जा रही थी, मेरे सामने सिर्फ एक ही लक्ष्य था। मैंने जीवन के सुख-दुखों को भुलाकर अपना तन-मन एक चीज के लिए लगाया। ईश्वर ने मुझे जो काम सौंपा था, उसे पूरा करने में मैंने कुछ उठा नहीं रखा। आज मैं मंजिल के पास सोच रही हूं, पिछले पन्द्रह वर्षों के संघर्ष की घड़ियों को। भाईजी, लक्ष्य की पूर्ति में जीवन कहां है? लक्ष्य के लिए साधना करते-करते मिट जाने की इच्छा या संकल्प में जो बल है, वह कितना बड़ा बल है, उसके अभाव का मुझे अनुभव हो रहा है। इसलिए अब मैं आप सबसे विदा लेना चाहती हूं।"

जब यह बहन पहले-पहल मुझसे मिली थीं, तब इनके चेहरे पर एक भाव पढ़ा था, आज बिल्कुल दूसरा भाव मैं देख रहा हूं। उस समय इनकी उम्र पच्चीस वर्ष की थी और लावण्य, आभा, उत्साह, उमंग थी। आज यह बहन चालीस वर्ष की है, पर इनकी हालत साठ वर्ष की बुढ़िया जैसी है। पन्द्रह वर्ष के निरन्तर संघर्ष में इनके सारे मनसूबों, सारी इच्छाओं और सारे उत्साह को एक ही दिशा मिली। यह बहन तिल-तिल अपने-आपको मिटाकर सच्चाई और नेकी का जीवन

जीकर, संसार की अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करती रहीं, सिर्फ इसलिए कि वह हमें एक सुयोग्य नागरिक प्रदान कर सकें।

अब निर्मला माताओं-बहनों की सेवा कर रही थी। निर्मला की मां बीमार रहने लगी। एक दिन मैं उससे मिलने गया, तो मालूम हुआ कि अब वह पूर्ण रूप से शान्त है। उसे न किसीसे कुछ कहना है, न कुछ करना। पर उसके चरित्र से जो सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी, उसकी गन्ध से कोई भी आदमी मुग्ध हो सकता है। एक दिन मालूम हुआ कि निर्मला बिना मां की हो गई है। पर ऐसी मां तो सबकी मां है। वह क्या मर सकती है!

मैंने निर्मला से कहा, "तुम्हारी मां ने जो जीवन की पवित्रता, अच्छाई और आदर्श रखा है, वही तुम्हारी सच्ची मां है और उसी मां की पूजा करो। पार्थिव मां तो आज नहीं तो कल जानेवाली ही थी। पर तुम्हें जो विरासत मिली है, वह किस भाग्यवान बेटी को मिल सकती है!"

निर्मला बूढ़े बाप की सेवा करते हुए मां के आदर्श को सामने रखकर चलने की कोशिश कर रही है। निर्मला की मां बेटी के रूप में आज भी मेरे सामने है, और जो लोग इस स्थिति से कुछ भी सम्बन्धित रहे हैं, उन सबके सामने रहनी चाहिए। स्व० सुभद्राकुमारी चौहान ने कहा था, "बचपन बेटी बन आया।" बेटी में मां और मां में बेटी समायी हुई है।

३ : दो चित्र

सम्भल (मुरादाबाद) में हम लोगों का एक खादी उत्पत्ति केन्द्र था। कभी-कभी मैं उसे देखने जाया करता था। एक बार का जिक्र है, वहां काम करते हुए मैंने एक औरत को देखा। दुबली, पतली, ठिगनी-सी थी वह। गेंहुआ रंग, बड़ी-बड़ी आंखें, चिपके गाल और लम्बी-सी

ठुड्डी। एक फटा-सा पाजामा और कुरती पहने तथा जगह-जगह से सिली हुई ओढ़नी ओढ़े वह अपना काम कर रही थी। मेरी निगाह उस पर पड़ी, तो न मालूम क्यों, वह मुझे नेक और भली औरत मालूम हुई। मैंने अपने कार्यकर्ताओं से दरियाफ्त किया, "यह वहन यहां कितने दिनों से काम करती है ?" उन्होंने वताया, कोई वारह-एक महीने हो रहे होंगे।

"क्या देते हो इसे ?"

"जितना काम करती है, उतना पाती है। काम होता है, तो चार आने, छः आने और कभी-कभी आठ आने तक पा जाती है। जब काम नहीं रहता, तव कुछ नहीं पाती।"

मेरी दिलचस्पी कुछ वढ़ गई। मैंने उस वहन को बुलाया और पूछा, "क्या कमा लेती हो ?"

"कमा क्या लेती हूं, किसी तरह पेट पालते हैं, लालाजी !"

मैंने पूछा, "घर में कमानेवाले कौन हैं ?"

"वस, मैं जो दाल-दलिया ले जाती हूं, उसीपर पांच प्राणी गुजर करते हैं। एक वूढ़ा अन्धा ससुर है, एक ननद है, दो वच्चे हैं, एक आठ साल का, एक पांच साल का।"

"और खाविन्द ?" मैंने पूछा।

"खाविन्द को तो खुदा के घर गये चार साल हो रहे हैं ?"

'इन चार सालों से कुनवे को तुम्हीं संभाले हुए हो ?"

"खुदा सबको संभालता है, लालाजी ! जितना मुझसे हो पाता है, अपना फर्ज अदा करने की कोशिश करती हूं। जव काम कम होता है, हमें मजदूरी कम मिलती है, उस हालत में हम सव-के-सव आदमी पूरा खाना नहीं पा सकते; पर मैं भरसक अपने वूढ़े ससुर को कभी भूखा नहीं सुलाती। उनके वाद वच्चों और ननद का नम्वर आता है, फिर मेरा। आप लोगों की मेहरवानी से गुजर हो रही है।"

उसके एक-एक शब्द से सच्चाई और कर्त्तव्यनिष्ठा प्रकट हो रही थी। मैं मन-ही-मन सोच रहा था कि हम समाज-सेवा, देश-सेवा का दम भरनेवालों में और इस वहन में कितना अन्तर है ! इतने में हमारे एक

कार्यकर्ता ने आकर कहा कि हाट में चलने के लिए कहते थे आप। समय तो हो गया है। उस वहन से बातें तो और करनी थीं, पर वह कल पर छोड़ मैं हाट चला गया, जो वहां से चार-पांच मील दूर देहात में लगती थी। वहां हम लोग सूत खरीदा करते थे। जो कत्तिनें सूत लातीं उनको हम सूत के वरावर धुनी हुई रुई देते और कताई के पैसे दे देते। वहुत-से भाई-वहन वहां सूत सरा रहे थे। मैं ध्यानपूर्वक सव देखता रहा। भीड़ कम होने पर मैंने एक वुड्ढी औरत से, जो देखने में साठ वर्ष की मालूम होती थी, पूछा, "माताजी, क्या मिला कताई का ?"

"साढ़े पांच आने पैसे मिले हैं।"

"कितने दिन की कताई है यह ? '

"लाला, इतवार को हाट लगती है, तव कभी पांच आने, कभी चार आने और कभी तीन आने के करीव मिल जाते हैं। सूत तो हम रोज़ ही कातते हैं।"

"आपका गांव यहां से कितनी दूर है ?"

"होगा ढाई-तीन कोस।"

मैं सोचने लगा कि दो-तीन पैसे रोज़ की मज़दूरी, चार-पांच कोस पैदल चलकर आना तथा रोज़ तीन-चार घण्टे कातना ! यह है हिन्दुस्तान की गरीवी का असली रूप ! हमारा देश कितना कंगाल है, यहां के देहातों के लोगों के लिए दो-तीन पैसे की कितनी कीमत है, उसको हम कलकत्ता, वम्वई आदि शहरों के रहनेवाले कैसे समझ सकते हैं ? भारत माता की सूखी हड्डियों का ढांचा, रूखे-विखरे सादे वाल, फटे चिथड़ों से ढंका तन, झुर्रियों से भरा मुंह, मुझे इस माता में दिखाई दिया और आंखें सजल हो आईं। उस वहन के फटे कपड़ों को देखकर मैंने अपने कार्यकर्ता से कहा, "इस माता को दो पाजामे, दो ओढ़नी, दो कुरती भंडार की तरफ से दे देना।"

उस सूखे पोपले, झुर्रियों से भरे मुंह पर लाली छा गई, आंखों में सुर्खी आ गई, भौंहें तन गईं और वह तमककर वोली, "भिखारी समझा है हमको, लाला ने ! हम गरीव हैं, मज़दूरी करके पेट पालते हैं, हमें

आपकी दया नहीं चाहिए। आपके कारिन्दे हमारा सून खरीद लिया करें, तो हम इसीको आपका बहुत बड़ा अहसान मानेंगी। हम रोज़ सूत कातते वक्त हाट के दिन गिना करती हैं, तीन कोस से चलकर आती हैं; पर कभी-कभी जब ये लोग कह दिया करते हैं कि हमारे पास सूत और कपड़ों का स्टाक ज्यादा हो गया है, उसके बिके बिना हम सूत नहीं खरीद सकेंगे, तो हमारे ऊपर जैसे वज्र गिर पड़ता है। आप महरबानी करना चाहते हैं, तो बस इतनी कर दीजिये कि हमारा सूत बिक जाया करे। लाला, हम गरीब हैं तो क्या हुआ। खुदा ने हाथ-पांव दिये हैं, मेहनत करके खाते हैं, हम खैरात नहीं लेते।"

मेरे अभिमान को चूर कर दिया इस बहन ने। हम रात-दिन गरीबों के श्रम पर पलनेवाले दया करने चले हैं इन स्वाभिमानी आदमियों पर। हमें शर्म आनी चाहिए इस ढोंग, दया, धर्म और पाखण्ड-भरे जीवन पर! दूसरे दिन वह कलवाली बहन काम करने आई, तो मेरी फिर इच्छा हुई कि उससे बातें करूं। मैंने कहा कि तुम लोग तकलीफ में हो, भण्डार की तरफ से तुमको बीस-तीस रुपये की मदद दी जा सकती है।

"लालाजी, काम करती हूं, इसकी मज़दूरी पाती हूं। फिर ये रुपये मैं किस बात के लूं? यदि आप यह प्रबन्ध कर दें कि मुझे बराबर काम मिलता रहे, तो आपकी बड़ी मेहरबानी हो।"

"तुम्हारी उम्र कितनी है?"

"होगी कोई पच्चीसेक की।"

"तो तुम निकाह क्यों नहीं कर लेतीं? तुम लोगों में तो निकाह होता ही है।"

"हां, होता तो है, पर मैं निकाह कैसे कर सकती हूं? इन अन्धे बुड्ढे ससुर को यों छोड़कर मैं निकाह करूं, तो क्या खुदा मेरा भला करेगा? मेरा फ़र्ज़ है कि मैं अपने मन को काबू में रखूं और खुदा ने जो काम मुझे सौंपा है, उसे करती रहूं। यदि मेरे नसीब में सुख बदा होता, तो शादी की थी न, वह क्यों चले जाते? अब निकाह करने से ही क्या होगा? मुझसे जहांतक बन पड़े, इन बुड्ढे की सेवा करती रहूं और इन बच्चों को आदमी बनाने की कोशिश करूं। खुदा की

मेहरवानी होगी, ये वच्चे आदमी वन जायंगे, तो सव हो जायगा।"

आज से करीव वारह-चौदह वर्ष पहले के इन दो वहनों के दो चित्र आज भी मेरी आंखों के सामने घूम रहे हैं। ये चित्र ऐसे हैं, जो कभी भुलाये नहीं जा सकते। ये चित्र हिन्दुस्तान की भयंकर गरीवी को और गरीवी में भी स्वाभिमान, कुल-मर्यादा, कर्तव्यनिष्ठा और कष्टसहन तथा सच्चाई को छिपाये हैं। हम सभ्य और पढ़े-लिखे सुसंस्कृत कहे और समझे जानेवाले लोग यदि छाती पर हाथ रखकर सोचें, तो जो हालत ऊपर वर्णन की गई है, उसकी जिम्मेदारी हमपर ही है।

४ : घूरे का घर

सन् १९३४ की जनवरी में उत्तर विहार में भीषण भूकम्प हुआ। इस भूकम्प ने विहार के लोगों को तो हिला ही दिया, साथ ही सारे भारत के लोग भी विहार की दैवी विपत्ति से व्याकुल हो उठे। उन दिनों आन्दोलन चल रहा था। देशरत्न राजेन्द्रवावू से लेकर विहार कांग्रेस के सारे कार्यकर्त्ता जेल में वन्द थे। सरकार ने भूकम्प की तकलीफों को महसूस किया और कार्यकर्ता मुक्त कर दिये गए। राजेन्द्रवावू की सदारत में भूकम्प-अंचलों में सहायता पहुंचाने के लिए एक कमेटी वनी। इस कमेटी को अपनी-अपनी संस्थाओं की तरफ ने सहायता पहुंचाने के लिए हिन्दुस्तान के हर प्रान्त के लोग आये थे। मुजफ्फरपुर, दरभंगा, मुंगेर—ये तीन जिले भूकम्प से अधिक पीड़ित थे। इन तीनों जगह में सहायता करनेवालों की वाढ़-सी आ गई। कलकत्ता तो विहार के वहुत नजदीक ठहरा, फिर विहार के लोग यहां रहते भी वहुत हैं। इसलिए कलकत्ता से इतने ज्यादा लोग और सस्थाएं गईं कि उनके खेमे लगाने तथा रहने का प्रवन्ध करना भी एक सवाल-जैसा ही वन गया।

मैं भी पांच सवारों में नाम लिखाने वहां जा पहुंचा। सभी जगह घूम-फिर

कर भूकम्प के दृश्य देखे, सहायता करनेवाली संस्थाओं तथा कार्यकर्ताओं को भी देखा। भूकम्प से धराशायी होनेवाले मकानों का मलवा हटाना काफी बड़ा काम था। आशंका हो रही थी कि इस मलवे के नीचे शायद आदमी दबे पड़े हैं। ऐसी दर्द-भरी हालत थी वहां की। ऐसे मौके पर भी देखा कि हमारे प्रचारक अपना काम कर रहे हैं। एक जुलूस निकला कार्यकर्ताओं का—नेताओं का—जिनके हाथों में कुदालियां और झुड़ियां थीं मलवा हटाने के लिए। जुलूस सजाकर खड़ा किया गया और फोटो उतारे गये। मैंने एक नेता से पूछा कि ये फोटो क्यों उतारे जा रहे हैं? मलवा हटाने के काम में तो इससे देर ही हो रही है। इसपर नेता महोदय ने कहा कि इसका बहुत प्रभाव पड़ेगा। जब ये फोटो अखबार में छपेंगे तो लोग समझेंगे कि कितना काम हो रहा है। मैं कुछ समझ न सका। सोचा, अच्छी बात है, प्रभाव पड़ सकता है। पर देखा कि फोटो उतर जाने के बाद वे कुदालियां और झुड़ियां वहीं रह गईं! यदि मलवा हटाया गया, तो उसे हटानेवाले लोग दूसरे ही थे।

मुजफ्फरपुर के एक गांव की तकलीफ की बात सुनकर हम लोग उस गांव को देखने और वहां के लोगों से मिलकर बातें करने के लिए चल पड़े। कुछ दूर तक तो मोटर से गये, पर आगे पानी भरा था और उसमें एक छोटी-सी नाव चल रही थी। उस नाव पर कुछ दूर गये, पर नाव किनारे तक नहीं जा सकती थी; क्योंकि आगे पानी बहुत कम था। उस पानी को पार कर हम लोग समतल जमीन पर पहुंचे। यह पानी भूकम्प के कारण फटी जमीन से निकला था और एक छोटी-मोटी नदी-जैसा बन गया था। आगे जाकर देखा, तो जमीन में इतनी बड़ी दरार फटी पड़ी है कि यदि उसमें हाथी भी समा जाय, तो कुछ पता न चले। मैं सोचने लगा कि पृथ्वीमाता का पेट इतनी भयंकरता से क्यों फट गया? गांधीजी ने कहा था कि हरिजनों के साथ हमने जो अन्याय किया है, उसके पाप का यह परिणाम है। कुछ समझ में नहीं आया कि इस पृथ्वी के फटने का कोई ऐसा भी कारण हो सकता है, जिसका हमारे जीवन से, हमारे आचरण से सम्बन्ध हो। तुलसीदास की एक

चौपाई याद आई—"अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी।" क्या सचमुच धरा हमारे पापों से अकुला गई है?

यह सब सोचते तथा रास्ते में भूकम्प के दृश्य देखते हुए कोई दो मील पैदल चलकर हम लोग एक गांव में पहुंचे। यह गांव राजपूतों का था। भूकम्प ने बुरा हाल कर दिया था इस गांव का। एक घर में गये। घर के हाल देखे, सारे छप्पर जमीन पर लोट रहे थे। कुआं बालू से भर गया था। खेतों की जमीन पानी से भर गई थी। ये लोग दस-पांच दिन पहले तक खुशहाल किसान थे। आज इनके पास न खाने के लिए अन्न है, न रहने के लिए घर है और न पानी पीने का कुआं है। ये लोग करीब-करीब भूखे ही रह जाते हैं। एक जगह दस-बीस आदमियों को इकट्ठा किया, बातें कीं, तो उन्होंने कहा कि हम लोग राजपूत हैं। हम धर्म यानी खैरात लेकर नहीं खा सकते और न खैरात का कपड़ा ही ले सकते हैं। मज़दूरी करने की बात कही, तो कहने लगे कि हमने मज़दूरी कराई है, की नहीं। यदि मज़दूरी की है, तो धरती माता की की है। आज धरती माता ही जब फट पड़ीं, तो फिर हम क्या करें? जिस दिन धरती माता राजी होंगी, उसी दिन सबकुछ होगा, नहीं तो फिर कोई उपाय नहीं। इस भूख में, इस कष्ट में भी यह स्वाभिमान, यह आत्मविश्वास हमें चकित करनेवाला था। अन्त में हमने उनको उधार लेने पर राजी किया और साथ के स्वयंसेवकों से कहा कि वे पास के केन्द्र से इनकी सारी व्यवस्था करें।

घूमते-घामते गांव के बाहर निकले, तो थोड़ी दूर पर एक टूटी-सी घास की झोंपड़ी दिखाई दी। वहां गये, तो देखा कि यह जगह गांव का कूड़ा फेंकने की है। वहींपर दो-एक लकड़ियों के सहारे थोड़ी-सी घास डालकर एक झोंपड़ी खड़ी की गई है। हवा और शीत को रोकने के लिए चारों ओर टूटी चटाई लगाने की व्यर्थ-सी चेष्टा की गई है। नज़दीक गये, तो इस घूरे के घर के अन्दर आदमी की आंखें-सी दिखाई दीं। इन आंखों में ऐसी चमक थी कि हमें याद आया, उस राजकुमारी को भी उस मिट्टी के टीले के अन्दर इसी तरह कहीं च्यवन ऋषि की आंखों की चमक तो नहीं दिखाई दी थी!

उस झोंपड़ी के पिछले हिस्से में जब यह देखा, तो सामने जाकर सारी स्थिति समझने की इच्छा हुई। वहां जाकर जो देखा, उसका वर्णन करना हमारी बुद्धि के वश का नहीं। एक स्त्री, जिसकी उम्र कोई तीस के करीब होगी, भयंकर काली, सूखा मुंह, उलझी-रूखी लटें, दुबला शरीर, एक चिथड़े-जैसी मैली साड़ी पहने दो बच्चों को छाती से चिपकाये बैठी थी, वहां। एक बच्चा जो सात-आठ वर्ष का होगा, पास में बैठा था। दो मिट्टी की हांड़ियां और थोड़ी-सी घास, जिसे उन लोगों ने बिछा रखा था, यही सारी सामग्री थी उस घर की या उस गृहस्थी की। बच्चे तो तीनों नंगे थे ही। हमें देखकर वह बहन खड़ी हो गई, तो वह फटी साड़ी उसकी लाज खोने के लिए तैयार! वह उसको कभी इधर खींचती, कभी उधर खींचती। हमें वहां खड़े रहने में भी संकोच होने लगा। इस यात्रा में अभी तक ऐसी हालत कहीं नहीं देखी थी। भूकम्प के जो दृश्य देखे, उनसे ऐसा लगता था कि जिनके मकान थे, वे गिर गये हैं। बाढ़ में जैसे गरीबों के घर बह जाते हैं, पशु बह जाते हैं, चारा नष्ट हो जाता है, खेती बिगड़ जाती है, ऐसी हालत वहां नहीं देखी थी। यहां के दृश्य भी काफी कष्टदायक थे, पर बाढ़ में जिन लोगों की हानि होती है, उसकी अपेक्षा यहां सम्पन्न लोगों की हानि हुई-सी लगती रही, इसलिए ऐसा दर्द नहीं हुआ जो विकल कर दे। पर जब इस बहन को देखा, तो वहां खड़ा रहना भी मुश्किल हो गया। जो हो, उससे बातें करना जरूरी था। हमने पूछा, "इस कूड़े के पास तुमने घर क्यों बनाया? ज़रा आगे गांव में बनातीं।"

"बाबूजी, हम हरिजन (डोम) हैं। हम लोग घूरे पर ही रहते हैं, गांव में नहीं रह सकते।"

"तो क्या बराबर ऐसे ही घर में रहती हो?"

"नहीं बाबूजी, पहलेवाला घर तो गिर गया। अब यहीं जंगल से घास-फूस इकट्ठा करके यह खड़ा किया है। सामान खरीदकर हम घर नहीं बना सकते।"

"ये बच्चे तुम्हारे ही हैं, फिर खाने-पीने का क्या करती हो?"

इसपर वह कुछ बोली नहीं। मैंने फिर पूछा, "खाने-पीने का

क्या इन्तजाम करती हो ?"

"इन्तजाम क्या बाबूजी, कल से तो ये ऐसे ही हैं। इन बच्चों के पिता मजदूरी करने गये हैं। उनको मजदूरी मिलेगी और वे कुछ लायंगे, तो खायंगे, नहीं तो भगवान मालिक है ही।"

"तो क्या कल वह कुछ लाये नहीं ?"

"नहीं, बाबूजी ! दिन-भर खटकर वह योंही लौटे थे। थोड़ा-सा बचा हुआ सत्तू खिलाकर आज सुबह उनको भेजा है। आशा है, आज तो वह कुछ जरूर लायंगे।"

"यहां तुम्हारे पास सहायक समिति के लोग नहीं आये ? यहां तो बहुत-से लोग आये हैं, गरीबों की सहायता करने।"

"नहीं, बाबूजी, यहां तो कोई नहीं आया। जिनको भगवान ने ही नीच बना दिया, उनके पास बड़े लोग कैसे आ सकते हैं ?"

"गांव के लोग भी तुम्हारी कोई मदद नहीं करते ?"

"हम नीच जो हैं, हमारे घर वे कैसे आ सकते हैं ? और फिर वे बेचारे तो खुद तकलीफ में हैं।"

"क्या तुम्हारे पति को रोज मजदूरी नहीं मिलती ?"

"रोज मिल जाय तब तो फिर कष्ट किस बात का ?"

शाम को सात बजे के करीब हम लोग लौटकर अपने खेमे में आ गये। पर इस घूरे के घर का दृश्य और इस हरिजन बहन की हालत पर मन में नाना तरह के विचार चलते रहे। कैसी हालत है हमारे देश में मानवता की ! हमने अपने लोगों की कितनी भयंकर अवहेलना की है और कितनी पीड़ा पहुंचाई है, हमारी भ्रान्त धार्मिक भावना ने इस बहन-जैसी अनेकों को ! एक तरफ है हमारी धार्मिकता, हमारा अभिमान और हमारा ऊंचे बनने का दावा ! एक यह बहन है, जो कहती हैं कि गांव के लोग बहुत कष्ट में हैं, वे हमारी सहायता कैसे कर सकते हैं ! इस पीड़ा में, इस अपमान में, भी गांव के लोगों का दुःख-दर्द है उसके मन में। कोई उसकी सहायता नहीं करता। वह भूखी है, नंगी है, उसके बच्चे शीत से कांप और भूख से बिलबिला रहे हैं, पर वह किसी अड़ोसी-पड़ोसी पर, सहायता करने के लिए यहां आई हुई सभा-समितियों

पर—किसी पर रोष नहीं करती। वह स्वतः कहती है, हम नीच जो हैं !

शायद यह अवस्था दुनिया में और कहीं नहीं है। यह सब तो हमारे इस धर्म-प्रधान देश की ही विडम्वना है। आज भी वह घूरे का घर आंखों में ज्यों-का-त्यों फिर रहा है। क्या स्वतन्त्र भारत में भी ऐसे घर और ऐसी अवस्था हम वर्दाश्त करेंगे ?

५ : डायमण्ड हारबर का खादी-मन्दिर

कलकत्ता से करीव ३० मील पर डायमण्ड हारवर एक गांव है। इस जगह का महत्व इसलिए ज्यादा वढ़ गया है कि वंगाल सरकार ने यहां पर एक विशेष प्रकार से प्रवन्ध कर रखा है। यहीं से होकर सब बड़े-बड़े जहाज भी गुजरते हैं। यहां पर पलटन भी काफी संख्या में रहती है। जिस जगह पर पलटन रहती है उसको आजकल 'सुरक्षित क्षेत्र' घोषित किया गया है और इसीलिए लोग उधर से आ-जा नहीं सकते। कलकत्ता के बाबू लोग छुट्टी के दिन यहां मन वहलाने के लिए आया करते हैं। गंगा का पाट यहां वहुत चौड़ा हो गया है। एक प्रकार से समुद्र जैसा ही लगता है। यह जगह वहुत सुन्दर है और इसके आस-पास वहुत-से छोटे-छोटे गांव हैं। यहां की जनता अत्यन्त गरीब है। यहांपर साल में केवल एक धान की फसल होती है। जनता के पास दूसरा कोई धन्धा नहीं है, इसलिए यहां की गरीबी नित्य बढ़ती जा रही है। अन्य जगहों की अपेक्षा यहां की जनता पिछड़ी हुई भी अधिक है। यहीं के कमारपोल नामक एक गांव में गत २० जनवरी (१६४०) को ८ बजकर ३० मिनट पर मैंने सत्याग्रह किया था। तब से उसका क्रम जारी है। प्रतिदिन किसी-न-किसी गांव या हाट-वाजार में सत्याग्रह होता है। मैंने सत्याग्रह करने के लिए यही जगह क्यों चुनी, यह बताने

के लिए ही यह लेख लिख रहा हूं।

यहांपर खादी-मन्दिर नाम की एक संस्था आठ-नौ वर्ष से लोक-सेवा का काम कर रही है। इस संस्था को यहां के वकील श्री चारुचन्द्र भंडारी ने सन् १९३१ में शुरू किया था; पर शीघ्र ही सन् १९३२ का आन्दोलन प्रारंभ हो जाने के कारण वह जेल चले गये। जेल से छूटने के वाद उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी। मन में देश-सेवा की लगन, मां के वन्वनों का दर्द और गरीव जनता के दुःखों का अनुभव था, इसीलिए उन्होंने सोचा कि सम्पूर्ण शक्ति और समय दिये विना कार्य नहीं हो सकता। चारुवाबू को दो साथी और मिले, जो दो भाई हैं। एक तो एम० ए० तक पढ़े हैं और एक आई० ए० तक। अच्छे परिवार के हैं। इनके पिता प्रोफेसर हैं। पिता से विचारों का मेल न होने के कारण ये दोनों भाई चारुवावू के साथी वन गये। पर इन लोगों के पास न तो कोई साधन था, न कोई सहायक। ऐसी परि-स्थिति में काम करने में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। कुछ दिनों के वाद एक सज्जन ने आठ वीघा जमीन एक वर्ष खेती करने के लिए मुफ्त दी। इन लोगों ने स्वयं खेती की, जिससे थोड़ी वचत हुई। किन्तु फिर भी थोड़े दिन के अन्दर चारुवाबू की स्त्री के गहने, जो वहुत ही सामान्य थे, एक-एक करके सव विक गये, यहांतक कि चारुवावू की एक घड़ी थी, वह भी वेच देनी पड़ी। अन्त में यहांतक नौवत पहुंची कि दाल-भात दो चीजों में से दाल छोड़कर केवल भात पर ही लोगों को गुज़र करनी पड़ी। ज़रा सोचिए तो सही कि जो आदमी दो-तीन सौ रुपया महीना कमा सकता हो, जिसका पिता प्रोफेसर हो और जो उससे कहे कि घर में आनन्द से रहो, दस-बारह रुपया महीना जेव-खर्च के लिए लो, अच्छा खाओ, अच्छा पहनो, अच्छे मकान में रहो, वही व्यक्ति दाल न मिलने के कारण केवल भात पर ही गुजर करे, यह कैसी बात है? इसके पीछे कितना महान् आदर्शवाद है! देश-सेवा की कितनी प्रबल भावना है! यदि ऐसा त्याग, ऐसी लगन हमारे कार्यकर्त्ताओं में आ जाय, तो इस पराधीन देश को स्वाधीन होने में देर न लगे।

इनसब कठिनाइयों का सामना करते हुए ये लोग अपना कार्य बराबर करते रहे। आज इनके साथ चौदह कार्यकर्त्ता हैं, जिनमें आठ रुपये से ज्यादा कोई भी नहीं लेता। दो तो ऐसे भी हैं, जो अपने घर से ही खाते-पीते हैं और दिन-रात इनके साथ कार्य करते हैं। गांवों में इनके केन्द्र हैं। खादी-मन्दिर का मुख्य उद्देश्य तो जनता के अन्दर राजनैतिक जागरण तथा स्वालम्बन की भावना पैदा करना है। इन लोगों ने इसके लिए मुख्य साधन चुना है वस्त्र-स्वावलम्बन का काम। वैसे तो ये लोग गांवों में हरिजन-सेवा तथा शराबबन्दी करना, आपसी झगड़ों को आपस में ही तय करा देना तथा गांव के स्वास्थ्य और सफाई और सामान्य औषध-वितरण करने का काम भी करते हैं; पर मुख्य काम वस्त्र-स्वावलम्बन का ही है।

इस समय इनके कई केन्द्र गांवों में खुले हुए हैं, जिनमें ४७०चर्खे चल रहे हैं। जो सूत तैयार होता है, उसका कपड़ा बिनवाकर जिनका सूत होता है उनको दे देते हैं। यहां लोगों के पास नकद एक रुपया भी मिलना मुश्किल है और इसलिए उनको धान बेचकर सब चीजें लेनी पड़ती हैं। कपड़ा भी लोग धान बेचकर ही लेते हैं। पर जिन घरों में चर्खों का प्रचार हुआ है उनमें से मैंने कई घरों को देखा है और उन लोगों से बातें की हैं। उनमें कपड़े का सवाल तय-सा हो रहा है। वे अपने सूत को बना लेते हैं। ऐसे अपने सूत के बने कपड़ों को पहने हुए कुछ लोगों को मैंने तथा भाई भागीरथजी ने देखा है।

एक बहन तो इतना सूत कातती हैं कि उसके घर के पांच आदमियों के साधारण कपड़े उससे बन जाते हैं, और एक अन्य बहन ने वर्ष में करीब अट्ठारह रुपये सूत कातकर ही कमाये हैं। इन गरीबों के लिए डेढ़ रुपये महीने की सहायता सामान्य बात नहीं है। चर्खों की मांग बहुत है, पर ये चर्खे दे नहीं सकते; क्योंकि इनके पास जो कुछ पूंजी है, वह कुल चारसौ रुपयों की है। यह भी अभी हुई है, पहले तो कर्ज़ ही था। इसीमें चर्खे देना, रुई देना और सूत का कपड़ा बिनवाना, ये सब करना असम्भव है। मुझे तो आश्चर्य हुआ कि ये लोग इतनी कम पूंजी में और इतने कम साधनों में कैसे काम चलाते हैं!

मुझे मालूम है कि वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए दूसरी जगहों पर हजारों रुपयों का खर्चा और हजारों की पूंजी लगी रही, तब कहीं थोड़ी सफलता मिली है। पिछले दिनों यहां अकाल पड़ा था तब भी इस संस्था ने अच्छी सेवा की थी। इन्होंने मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी और पश्चिम बंगाल अकाल बाढ़ सेवा समिति से सहायता पाकर यहां की बिल्कुल ही निरान्न प्रजा को अन्न पहुंचाया तथा उनको धीरज और साहस दिलाया था। हरिजन पाठशाला तो चलती ही है। गांव के अन्य प्रश्न, जैसे बीमारों की दवा आदि भी करते हैं। ये गांव के सुख-दुःख के साथी बन गये हैं, इसलिए गांव के लोगों में इनका अच्छा आदर और प्रेम है। ये लोग बिलकुल महात्मा गांधी की विचारधारा के अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं। पिछले कुत्सित प्रचार के कारण बंगाल में महात्मा गांधी का थोड़ा-बहुत विरोध हुआ, उसका इनके कामों पर कुछ असर नहीं पड़ा। जो लोग विरोधी हैं, वे भी इनकी सच्चाई में विश्वास करते हैं। गांधी सेवा-संघ की मीटिंग के समय इन्होंने करीब एक हजार रुपया चन्दा जमा करके गांधीजी को दी जानेवाली थैली में भेंट दिया था।

आज इस सत्याग्रह-संग्राम में इनके रचनात्मक कामों के असर की वजह से चौदह सज्जन, जो बिल्कुल गांधीजी की शर्तों को पूरा करनेवाले हैं, सत्याग्रह करने के लिए चुने गये हैं। इनके प्रधान श्री चारुबाबू तो सत्याग्रह करके एक वर्ष के लिए जेल चले गये। ऐसी संस्था और ऐसे कार्यकर्त्ताओं का सहयोग तथा आग्रह मुझे यहां सत्याग्रह करने को ले आया। मुझे उसमें इनके सहयोग से बहुत सुविधाएं मिलीं। मुझे खुशी है कि ऐसे लोगों का सहयोग मिला, जिसका मिलना सौभाग्य की बात है।

६ : एक दिन की बात

मेरे एक मित्र हैं, जो स्वभाव से सहानुभूतिशील हैं। देश और समाज की सेवा का भाव रखते हैं और जितनी बन सके उतनी सेवा करते भी हैं। पर इनकी कितनी ही मुश्किलें हैं, जो प्रायः हर आदमी को रहा करती हैं। फिर भी अलग-अलग आदमियों की अलग-अलग स्थितियां होती हैं—मानसिक, आर्थिक और सामाजिक। मेरे ये मित्र बहुत सोच-विचार करनेवाले आदमी हैं। ये मेरे बहुत नजदीक के मित्र हैं और इनके बारे में मैं प्रायः सभी बातें जानता हूं। इनके लिए मेरे मन में काफी सहानुभूति और श्रद्धा भी है। यहां इन मित्र के बारे में लिखना मेरा कोई उद्देश्य नहीं, यहां तो एक स्थिति का, एक घटना का, वर्णन करना है। पर वह घटना इन्हींसे सम्बन्धित है। मेरे मित्र ज़रा नाजुक तबीयत के हैं, दिल-दिमाग से अमीर और रईस भी। अनजान लोग इन्हें धनी भी मानते हैं और इसकी सजा भी इन्हें देते हैं। जो भी हो, इनके बारे में तो मुझे अपना लोभ संवरण करना ही होगा, नहीं तो जिस घटना का मैं वर्णन करना चाहता हूं, वह इनके बारे में सोचने और लिखने में ही खो जायगी।

चार-पांच दिन पहले शाम को मैं उनसे मिला तो वह बहुत उदास, थके और दुखी से दिखलाई पड़े। मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं थी। बहुत बार ऐसा होता है और मैं उनको इसी तरह की स्थिति में देखा करता हूं। हां, इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है और वह कारण ज्यादातर सामाजिक, राजनैतिक या इसी तरह की कोई घटना होती है। आज भी उनको देखते ही मैंने समझ लिया कि वह कहीं चोट खा गये हैं। मैं तो व्यावहारिक आदमी हूं। इसीलिए इस भावुक आदमी के प्रति आदर का भाव रखते हुए भी मैं उनकी भावनाओं के लिए उनसे रोज झगड़ता हूं। जो हो, मैंने पूछा, "कहिए, आज कहां क्या देख आये?"

वह ज़रा चौंके और बोले, "योंही संसार में न जाने कहां-कहां क्या-

क्या हो रहा है, उसे देखने से भी क्या होता है और सोचने से भी क्या होता है।

मैंने कहा, "तुम्हारे जैसे बेवकूफों को दुःख होता है और उसको अपना दुःख बनाकर घिरे रहते हैं, सोचते रहते हैं। जो कुछ करने की शक्ति है, वह भी उसी दुःख में योंही नष्ट होती रहती है।"

उन्होंने कहा, "अच्छा, फिलहाल कोई दूसरी बात करें।"

"दूसरी बात कैसे करें? क्या हम इतने गये-बीते हैं कि जिस घटना से तुम इतना विकल हो जाते हो, उसे हम सुनें और समझें तक नहीं?"

अन्त में मैंने उन्हें सारी कहानी कहने के लिए राजी कर लिया। उन्होंने कहा, "तुम जानते हो, मुझे फलों का कितना शौक है और मैं उन्हें तन्दुरुस्ती के लिए कितना जरूरी मानता हूं। फिर आमों की तो बात ही क्या, आजकल तो आमों का मौसम है। तुम यह भी जानते हो कि मैं आमों का विशेष रूप से शौकीन हूं और जब रुपये का एक आम आता था, तब भी अपने दोस्तों के यहां आम भेजा करता था। आज जब मैं आम लाने गया, तो बढ़िया आम मिल गये। सोचा, ज्यादा ले लूं, दो-चार मित्रों के यहां भेज दूंगा।"

मैंने बीच में ही रोककर कहा, "रोटी की बात क्यों नहीं करते, जिसका मिलना कठिन हो रहा है। फलों की बात करते हो और स्वास्थ्य के लिए उन्हें जरूरी बताते हो, यही तो तुम्हारी भावुकता है!"

वह बोले, "देखो, ऐसा करोगे तो मैं कुछ भी कह नहीं सकूंगा।" फिर उन्होंने कहा, "मेरे एक रिश्तेदार बहुत गरीब हैं। उनके छोटे-बड़े आठ बच्चे हैं। अचानक मुझे उनकी याद आई। मैं सोचने लगा, जिन मित्रों के यहां मैं आम भेजता हूं, उनके यहां आमों की कोई कमी तो है नहीं। वह स्नेहवश आम ले लेते हैं। उस रिश्तेदार के बच्चों को तो शायद आम के मौसम-भर भी आम न मिले हों और मिले भी हों तो एक-आध बार और वह भी बहुत ही घटिया। और मैंने भी उनके यहां कभी आम नहीं भेजे! इस विचार ने मेरे मस्तिष्क में ऐसी उथल-

पुथल पैदा की कि इसके मनोवैज्ञानिक तथा दूसरे कारणों पर सोचता रहा। मोटर अपनी रफ्तार से चली जा रही थी। बहुत दूर जाने के बाद मैंने ड्राइवर से कहा कि मोटर लौटाओ, अमुक आदमी के यहां चलना है।

"थोड़ी देर में मोटर बड़ाबाजार की एक संकरी गली में घुसी और एक पुराने मकान के दरवाजे पर जा खड़ी हुई। तीन-चार अध-नंगे, कृशकाय बच्चे दरवाजे के बाहर खड़े थे। उन्होंने कौतूहल की दृष्टि से मोटर को और मुझको देखा। दो-एक ने भीतर जाकर अपने पिता को खबर दी कि अमुकजी आये हैं। संयोगवश वह घर पर ही थे और मुझे लेने बाहर आये। उनके साथ जब मैं कोठरी में गया तो देखा कि उनकी स्त्री टाट का एक टुकड़ा बिछाकर मेरे लिए बैठने की जगह तैयार कर रही है। स्त्री बेचारी टाट बिछाने में जल्दी कर रही थी कि कहीं मैं उसकी फटी साड़ी न देख लूं। उन्होंने बड़े आदर के साथ मुझे उस टाट के आसन पर बैठाया। कोठरी में सील की बू तो थी ही, आसपास की कोठरियों से आकर धुआं भी भर गया था। मकान के सहन में जैसे सूर्य भगवान का प्रवेश-निषेध था। वहीं आइसक्रीम बेचने की गाड़ियों का कारखाना भी था। गाड़ियां जहां-तहां अस्त-व्यस्त पड़ी हुई थीं। उनके बच्चे भी आ गये। जो बाहर गये थे, वे नहीं आ सके।

"कोठरी का किराया पूछने पर उन्होंने बताया कि तैंतीस रुपये लगता है। बातों-ही-बातों में पता चला कि वे एक जगह डेढ़ सौ रुपये मासिक पर नौकरी करते हैं। सुबह ७ बजे जाते हैं और ११ बजे लौटते हैं। भोजन करके १२ बजे फिर चले जाते हैं और शाम को ७ बजे लौटते हैं। भोजन करने के बाद रात में फिर जाते हैं और १० बजे लौटते हैं। बच्चों की पढ़ाई-लिखाई के बारे में बात करने पर कहा कि एक लड़का स्कूल जाता है, जिसकी फीस सात रुपये महीना लगती है। बाकी बच्चे यहां मटरगश्ती करते फिरते हैं। उन्हें स्कूल भेजने की बात हुई तो कहने लगे कि स्कूल की फीस और किताबों के दाम कहां से आयें? तैंतीस रुपये भाड़े का, सात रुपया एक लड़के की फीस का,

पचपन रुपये राशन के अन्न का, फिर दाल, मसाला, लकड़ी आदि में जो खर्च होता, वह सब पूरा नहीं पड़ता। कपड़ा, जूता, तेल, साबुन आदि से हमारा कोई संबंध नहीं। देश से आये सात महीने हुए तबसे हमने कपड़ा या दूसरी कोई चीज नहीं खरीदी, सिवा खाने की चीजों के। हमारे सामने तो सबसे बड़ा सवाल पेट का है। लिखाई-पढ़ाई तथा दूसरी चीज़ों के बारे में सोचने-करने का हमारा अधिकार ही नहीं है। इस एक लड़के ने देश में निःशुल्क थोड़ा पढ़ लिया था सो यहां भी स्कूल जाने का आग्रह करने लगा। हमने किसी तरह उसे स्कूल भेज दिया है, पर हमारी कोशिश रहती है कि यह भी कुछ काम करे और बीस-तीस रुपये भी लाने लगे तो हम भर-पेट खा सकें। मैंने कहा कि आप इन बच्चों को देश में क्यों नहीं रखते तो उनकी स्त्री कहने लगी कि हमारी तो देश में भी यही हालत है। इसीलिए सोचा कि दुःख-सुख जो है सो तो है ही, साथ रहकर बिताने से कुछ तो सहारा रहेगा।

डेढ़ सौ रुपये में तैंतीस रुपये किराया और सात रुपया फीस देने के बाद एक सौ दस रुपये में दस आदमी कैसे गुजर करते हैं, यह देखकर मैं स्तम्भित रह गया। हम समाज में शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य आदि की बात करनेवाले लोग सोच नहीं सकते कि वस्तुस्थिति क्या है, क्योंकि हमारा उस स्थिति से वास्तविक संबंध नहीं है। उपर्युक्त स्थिति के परिवार के बच्चे कैसे स्वस्थ रह सकते हैं, कैसे उन्हें शिक्षित किया जा सकता है और कैसे उन्हें नागरिकता की प्रारंभिक बातें बताई जा सकती हैं? वे जैसे तपेदिक के कीड़े हैं, समाज में अनायास फैलते जाते हैं। ऐसे लोग तपेदिक-जैसी बीमारी हो जाने पर भी सुबह सात बजे से रात के दस बजे तक काम करने के लिए बाध्य हैं, ताकि आठ-दस प्राणियों को जिला सकें। वे बीमारी को भी छिपाते हैं कि कहीं मालिक को पता न लग जाय और उन्हें निकाल न दे।"

मित्र की उपर्युक्त बातें मुझे दुःखित कर रही थीं। मैंने प्रश्न किया, "सबसे छोटे बच्चे की उम्र क्या होगी?"

"तीन वर्ष।"

"स्त्री की उम्र क्या है?"

"होगी कोई पैंतीस वर्ष । वच्चे तो और भी हो सकते हैं, क्योंकि गरीब के पास अपने मनोरंजन के लिए आज सेक्स के सिवा और कोई चीज है ही नहीं ।"

"तुमने उनसे जन्म-निरोध की वात क्यों नहीं कही ?"

मेरे मित्र एक व्यंग्य-भरी मुस्कान के साथ वोले, "रे पगले, यह सव तो हमारे-तुम्हारे लिए है । जिनके वीमारी है, उनकी दवा कौन करता है ? मैं उनसे जन्म-निरोध की वात कहता ! पहले तो वह यह मानने को तैयार ही नहीं कि ऐसा भी कोई उपाय हो सकता है, जिससे वच्चा होना रुक जाय । वह तो यह मानते हैं कि ईश्वर ने जिसके नसीव में जितने वच्चे लिखे हैं, लाख प्रयत्न करने पर भी उतने अवश्य होंगे । फिर वच्चों का होना तो वुरा नहीं । जव भगवान् कृपा करते हैं, तो वच्चे होते हैं । मेरे एक मुसलमान मित्र हैं, जो अपने वच्चों की संख्या गिनकर वताया करते हैं, क्योंकि उनके तेरह वच्चे तो जीवित हैं । इनके अलावा होते रहते हैं और मरते भी रहते हैं । जन्म-निरोध की वात करने पर एक दिन उन्होंने कहा कि भाईसाहव, जव खुदा भेजता है, तो हम कौन होते हैं रोकनेवाले ? सच पूछो तो यह वीमारी इतनी गहरी है कि इसका इलाज नहीं सूझ रहा है । जवसे मैं उस परिवार से मिलकर आया हूं, तवसे मेरे मन में एक अजीव हलचल मची हुई है । मेरा मन और मस्तिष्क दोनों अनेकानेक प्रश्नों और समस्याओं से घिरे हुए हैं । मैं सोचता हूं, ऐसे अनेक परिवारों की इससे भी अधिक जटिल समस्याओं का समाधान हो और कैसे हो ? उन वच्चों की शक्ल और उस कोठरी का दृश्य मेरी आंखों के सामने वरावर घूम रहा है ।"

मैंने कहा, "तुम ठीक कहते हो, और आज हमारे देश में ऐसी स्थिति न जाने कितनों की है, पर इसका यदि कोई उपाय है, तो क्रान्ति ही है । यों व्यक्ति-विशेष या एक-एक व्यक्ति के लिए चिन्ता करने से क्या हो सकता है ? तुमने जिस परिवार का वर्णन किया है, ऐसे परिवारों की सृष्टि यहां रोज होती जा रही है । समस्या का इलाज तो दूर रहा, आज तो समस्या और भी उलझती जा रही है । तुम देखते हो कि आज की स्थिति और व्यवस्था में धनी का धन बढ़ रहा है और गरीब

की गरीबी बढ़ रही है। एक तरफ तो ढेर लगता जा रहा है और दूसरी तरफ का गढ़ा और भी गहरा होता जा रहा है। समता का स्थान विषमता ले रही है। ऐसी स्थिति में ज्यादा काम करने की जरूरत है, जिससे हम समाज को सुखी और समृद्ध बना सकें, समता ला सकें। यों दुःखी होने या चिन्ता करने से तो काम नहीं चलेगा। आज समाज की रचना और संचालन जिन सिद्धान्तों से, जिस नीति से, जिन तत्त्वों और विचारों से हो रहा है, उनको ही शायद बदलने की जरूरत है और उनको बदलने के लिए हमें कार्यशील, योग्य, ईमानदार, परिश्रमी आदमी चाहिए। जहां-जहां ऐसे आदमी मिलें, उनकी खोज होनी चाहिए, संगठन होना चाहिए, कार्यक्रम होना चाहिए। तभी इस स्थिति को बदलकर नये समाज की रचना की जा सकती है। व्यक्ति की स्थिति से हम समाज की स्थिति का अन्दाज कर सकते हैं, पर उस एक के सुधार से समस्या का समाधान नहीं हो सकता।"

मित्र बोले, "भई, यह तो ठीक ही है। तुम कहते हो, वैसा हम तथा हमारे जैसे दूसरे लोग सोचते रहे ही हैं, पर हालत तो यह है कि मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।"

"यह कैसे कहते हो? आज के विचारशील व्यक्ति, चाहे वे किसी भी विचार के हों, यहांतक कि धनी वर्ग के भी समझने-सोचनेवाले आदमी, यह मानने लगे हैं कि आज की हालत में बड़ा परिवर्तन होकर रहेगा, यह व्यवस्था जो आज कायम है, टिक नहीं सकती।"

इसपर मित्र बोले, "फिर भी एक बड़ा भाग ऐसा है, जो अपने साधनों द्वारा इस व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश कर रहा है और सोच रहा है कि कम-से-कम कुछ दिन तो हम इसे बचाये रख ही सकेंगे।"

मैंने कहा, "इसमें अधीर होने से काम नहीं चलता। हमारी लगन और हमारे साधन जितने ज्यादा होंगे, सफलता उतनी ही नजदीक आती जायगी। साथ ही, यह निश्चय मानना चाहिए कि समय बड़ी तेजी से बदल रहा है। देखते-देखते राजे-महाराजे और जमींदार मिट गये, मिट रहे हैं, तो अब यह सेठ-साहूकार भी मिटनेवाले हैं और तुम जिस परिवार को

देख आये हो इससे भी ज्यादा जो सर्वहारा है, जिसके पास कुछ नहीं है, उसका उद्धार होनेवाला है। हमें काम वही करना चाहिए—साहित्य के द्वारा, संगठनों के द्वारा—कि वह ऐसे समाज की रचना में सहायक हो सके, जिसमें वैसे दृश्य रह न जायं, जैसा कि तुम देख आये हो।"

अंधेरे के कैदी

१ : अंधेरे का कैदी

भाद्र का महीना था। रात के करीब ११ बजे होंगे। प्रेसिडेन्सी-जेल के यूरोपियन वार्ड में मैं अपनी कोठरी में बन्द था। खिड़की से मुझे आकाश अच्छी तरह तो नहीं दिखलाई पड़ता था; पर जितना भी दिखलाई पड़ता था, काले बादलों से घिरा था। थोड़ी देर में बूंदें पड़ने लगीं। किसी अस्थिर-चित्त मनुष्य के विचारों या क्षण-क्षण में होने और टूटनेवाली मित्रता की तरह विद्युत् अपना प्रकाश मेरी इस अंधेरी कोठरी में फैलाने लगी। मैं पड़ा-पड़ा तरह-तरह के विचारों में निमग्न था, क्योंकि नींद नहीं आ रही थी।

सहसा एक सुन्दर गाने की आवाज़ सुनाई पड़ी। यह गान कविवर रवीन्द्रनाथ का निम्न पद था :

मेघेर पर मेघ जमेछे आंधार करे आसे,
आमाय केनो बसिए राखो एका द्वारेर पासे।

यह गाना मुझे इतना सुन्दर लगा कि मैं अपने विचारों की उलझन से निकलकर इसके राग और भावों में अपने-आपको भूल गया। गान समाप्त होने पर मैं सोचने लगा कि जेल में इस आधी रात को गाने-वाला कौन है ? इस वार्ड में हम दस राजनैतिक कैदी हैं। उनमें से तो कोई गा नहीं रहा है और दूसरा वार्ड यहां से काफी दूर है। तब फिर आखिर यह कौन गा रहा है ?

पास ही में एक हाजत थी, जिसमें करीब तीन-साढ़े तीन सौ आद-मियों को भेड़-बकरियों की तरह शाम को छः बजे बन्द कर दिया जाता

था। मैं जब कभी किसी काम से वार्ड से बाहर निकलता था, तो इन मनुष्य तनधारी पशुओं को देखता था। उनकी हालत देखकर सहसा यह विश्वास कर लेने को जी नहीं चाहता था कि हाजत के इन वनमानुषों में किसीने यह गाना गाया है। वर्षा से थोड़ी ठंडक-सी हो गई थी, अतः गानेवाले की बात सोचते-सोचते ही न जाने कब मुझे नींद आ गई।

सुबह उठते ही मेरे मन में यह प्रश्न जग उठा कि रात में वह गान किसने गाया था? बगल की कोठरी के भाई से बात की तो उत्तर मिला कि वे तो रात-भर खर्राटे लेते रहे। उन्हें तो यह भी पता नहीं कि कब बादल छाये और कब वर्षा हुई। किसी काम के बहाने मैं वार्ड से बाहर निकला। देखा कि पास में ही सैकड़ों अधनंगे मैले-कुचैले लोग सुबह का नाश्ता कर रहे हैं। नाश्ता भी उनका बस था, सो ही था। जेल में सुबह के नाश्ते में कैदियों को एक लपसी दी जाती है, जिसमें चावल, नमक और कुछ मसाले मिले होते हैं तथा पानी की बहुतायत रहती है। मैंने एक से पूछा, "भाई, तुम लोगों में से किसने रात को इतना अच्छा गाना गाया था?"

वह बोला, "बाबूजी, कौन-सा गाना? हम गाने की बात क्या जानें!"

मैं सोचने लगा, मैं भी कैसा पागल हूं, जो इस तरह की बात करता हूं!

दस-पांच दिन गुजर गये, पर मेरे मन में यह चाह बनी रही कि उस गानेवाले का पता लगता, तो अच्छा था। एक दिन शाम को पांच बजे मेरी मुलाकात थी। हम लोगों को पन्द्रह दिन में एक बार घर के लोगों से या जिनसे हमारा खास सम्बन्ध हो और पुलिस को उनसे मिलने देने में कोई आपत्ति न हो उनसे हमारी मुलाकात कराई जाती थी। मैं जब मुलाकात करके लौट रहा था, तो उसी हाजत के पास एक आदमी बैठा अपनी थाली पर हाथ से कुछ बजाने का-सा प्रयत्न करता हुआ दिखलाई पड़ा। मेरे मन में उस रात के गाने की स्मृति जाग उठी। मैंने उसके पास जाकर पूछा, "क्या बजा रहे हो?"

वह शरमा गया और बोला, "बाबूजी, कुछ नहीं बजाता।"

मैंने कहा, "मालूम पड़ता है, तुम गाना जानते हो।"

"नहीं बाबूजी, योंही ज़रा कभी ऊं-आं कर लिया करता हूं।"

"पांच-छः दिन पहले रात में मैंने एक बहुत सुन्दर गाना सुना था। पता नहीं, वह किसने गाया ? मैं उस आदमी को खोज रहा हूं। कौन जाने, किस वार्ड में है !"

"यहां हम तीनसौ आदमी बन्द होते हैं। रात में काफी शोर होता है। नींद नहीं आती, तब कई लोग योंही कुछ गाया करते हैं। आपने वही सुना होगा। दूसरे वार्ड में से गाया हुआ गाना यहां क्या सुनाई पड़ेगा ?"

"तुम यहां कितने दिनों से हो ?"

"दो वर्ष हो रहे हैं।"

"कितनी सजा है तुम्हारी ?"

"सजा कहां ? ब्लैक-आउट में (अंधेरे का कैदी) हूं।"

"ओह, तुम ब्लैक-आउट हो ! तो पहले कई बार सजा पा चुके हो न ?"

"पहले की बात मत पूछिये, बाबूजी ! हां, सज़ा तो काटी ही है।"

उसकी आवाज में दर्द था। वह भर्राई हुई थी। वह आदमी भी ज़रा दूसरों से भला-सा लगता था। मैंने कहा, "तुमको यहां कोई तकलीफ तो नहीं है !"

"तकलीफ किस बात की, बाबूजी ! हम चोर जो ठहरे ! हमारा तो यह घर ही है। एक बीड़ी हो, तो कृपा करें।"

"भाई, बीड़ी तो मैं नहीं पीता।"

"तो कोई साबुन का टुकड़ा हो, तो..."

"हां, भीतर वार्ड में आना, साबुन जरूर मिलेगा।"

"भीतर बाबूजी, सिपाही नहीं जाने देते। यदि रिपोर्ट कर दें तो यहां बेड़ी लग जायगी।"

"अच्छा, यदि हम तुम्हें अपने वार्ड में काम करने के लिए ले लें, तब ?"

"तब तो बड़ी कृपा होगी, बाबूजी !"

"देखो भाई, हम सब हैं राजनैतिक बन्दी और उसमें भी सिक्यूरिटी-प्रिजनर। हम लोगों के पास बहुत-सी चीजें भी हैं। कीमती चीजें भी हैं। तुम कहीं चोरी कर लो, तब ? तुम लोगों का क्या भरोसा!"

"हां, हमारा विश्वास कौन करता है!"—एक लम्बी सांस खींचते हुए उसने कहा।

मैंने कहा, "अच्छा, मैं जेलर से बात करूंगा। तुम्हारा नाम क्या है ?"

"मेरा नाम धीरेन्द्रदास है।"

"और नम्बर ?"

"नम्बर ३४५-वी है।"

मैं अपने वार्ड में आ गया। सोचने लगा, आदमी आदमी में इतना फर्क क्यों है? क्या यह फर्क होना जरूरी है ? क्या यह स्वयं निर्मित है? नहीं, यह फर्क जबरदस्त आदमी ने अपनी सुविधा के लिए बनाया है। अपने स्वार्थ के लिए उसने कमजोर आदमी पैदा किये हैं। यह फर्क एक बहुत लम्बे समय से चला आ रहा है। क्या यह बराबर इसी तरह चलता रहेगा ? यही सोचता-सोचता मैं अपने कार्यों में लग गया। दूसरे दिन जेलर से कहकर हम लोगों ने उस आदमी को अपना काम करने के लिए ले लिया। दो-चार दिन तो उसको काम से परिचय करने में लगे, फिर वह सब काम बड़ी सफाई और चतुराई से करने लगा। हमें कभी किसी तरह की शिकायत करने का मौका उसने नहीं दिया। यदि ऐसा आदमी हम शहर में नौकर रखें, तो इस महंगी के जमाने में बीस रुपया मासिक और खाना तो देना ही पड़े। और आजकल खाने पर भी कम-से-कम पौन-एक रुपया तो रोज खर्च होता ही है। पर यह आदमी रात-दिन कड़ी मेहनत और होशियारी से काम करता है और सिवा दो-चार बीड़ियों के इसकी कोई मांग नहीं। पर यह कैदी जो है, चोर जो है, कौन इसे काम देगा, कौन इसे अपने घर में रखेगा ? बोलबाला है आज इस समाज-रचना का, जिसने हम-जैसे सफेदपोशों के लिए सब सुभीते कर रखे हैं। शरीर से कोई परिश्रम करना हम पसन्द नहीं करते—पसन्द ही नहीं, उस परिश्रम करने में अपनी हेठी भी समझते हैं और

साथ ही 'कल्चर' की कमी भी।

एक दिन हम लोगों का रसोइया बीमार पड़ गया, तो धीरेन्द्र ने कहा, "बाबूजी, क्या खाना बना दूं ?"

"तुम खाना कैसे बनाओगे ? तुम तो खाना बनाना जानते नहीं।"

"नहीं बाबूजी, मैं जानता हूं। एक दिन मुझसे बनवाकर तो देखिये।"

और उस दिन धीरेन्द्र ने जो खाना बनाया वह उस रसोइये के खाने से कहीं अच्छा था। उसने एक-दो चीजें नई भी बनाई थीं। अब तो वह हम लोगों का खाना भी बनाने लगा और नित्य एक-न-एक नई चीज बनाता, जो लोगों को बहुत पसन्द भी होती। मैं सोचता कि यह आदमी पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर बड़ा अच्छा मिला। यदि यह आदमी किसी तरह इस ब्लैक-आउट से छूटे, तो इसको अपने घर पर रख लें। यह चोर जरूर है; पर यदि सोचकर देखा जाय, तो इसका इसमें बहुत कम कसूर है। बेचारा क्या करे ? जब इसका कोई विश्वास ही नहीं करता, तो पेट के गढ़े को भरने के लिए कुछ-न-कुछ करेगा ही। आज की समाज-रचना ने न मालूम कितनों को अपना पतन करने के लिए विवश किया है।

अब धीरेन को पहले की अपेक्षा काम कम करना पड़ता था, पर कभी खुश नहीं दीख पड़ता। उसे देखकर मैं बराबर यही सोचा करता कि इस आदमी के मन में कोई गम-दर्द जरूर है। एक दिन मैंने उससे पूछा, "धीरेन, तुम्हें यहां कोई तकलीफ तो नहीं है ?"

"नहीं बाबूजी, यहां तो बहुत आराम है। आप लोगों की सेवा का मौका मिलता है। आप लोग देश के लिए तकलीफ सहते हैं। हम तो चोर हैं। आपका साथ मिल गया, यही क्या हमारे लिए कम है। यहां भला तकलीफ किस बात की ?"

"तो तुम इतने सुस्त क्यों रहते हो ? तुमको कभी हंसते नहीं देखा। बताओ भाई, यदि हमसे कुछ हो सकेगा, तो तुम्हारे लिए करने की कोशिश करेंगे।"

इतना सुनकर वह रोने लगा। कुछ देर बाद संभला तो मैंने आश्वासन के स्वर में पूछा, "यह क्या बात है ?"

"वात कुछ नहीं है, वावूजी, मैं सदा से ऐसा नहीं था।"

यह सुनकर उससे पिछला हाल जानने की मेरी उत्कण्ठा और भी वढ़ी और मैंने उससे पूछा, "अच्छा, तुम्हारी कहानी क्या है ?"

"क्या फायदा है उसे कहने में ? योंही आदमी किसी अज्ञात के इशारे से क्या से क्या हो जाता है !"

"नहीं, तुम इस फन्दे में कैसे फंस गये ? तुम तो थोड़ा लिखना-पढ़ना भी जानते हो, मेहनती भी हो, काम करने का शऊर भी है, फिर तुम्हारा यह हाल कैसे हुआ ?"

"अच्छा, जव आप पूछते ही हैं, तो मैं कहे देता हूं। मेदिनीपुर जिले के सूताहाटा गांव में मेरा घर है। मां-वाप हैं, दो वहनें हैं, जगह-जमीन है, गाय-वैल हैं। अच्छी खाती-पीती अवस्था है, किसी वात की कमी नहीं। पिता-माता का इकलौता पुत्र और वह भी वड़ी उम्र में पैदा होने के कारण मैं वहुत लाड़-प्यार से पाला गया। गांव के स्कूल में मिडिल तक पढ़ा भी। आगे पढ़ने की खूव इच्छा थी; पर हमारे गांव में इससे आगे की पढ़ाई नहीं होती थी और शहर के स्कूल में भेजने के लिए माता-पिता राजी नहीं हुए। मैंने वहुत कोशिश की; पर मां मुझे अपने से अलग करना नहीं चाहती थी। फलतः मैं घर की खेती-वारी का काम देखने लगा।"

वह जरा चुप हुआ और ठिठका। उसके चेहरे पर किसी विषाद-भरे भाव की रेखाएं चमकने लगीं। मैंने पूछा, "क्यों, चुप कैसे हो गये ?"

"वावूजी, और वातें आज नहीं, किसी दूसरे दिन वताऊंगा।"

"नहीं भाई, अव तो मेरी उत्सुकता और वढ़ गई है। कहो—कहो, घवराना नहीं चाहिए।"

वह वोलना ही चाहता था कि किसीने पुकारा, "धीरेन !" और वह उठकर चला गया। देखा, सिपाही आया है और कह रहा है कि उसकी दूसरे वार्ड में वदली हो गई है। सुनते ही वेचारा सहम गया। मेरे पास आकर वोला, "वावूजी, मुझे आठ नम्वर खाते में जाना पड़ेगा।"

"क्यों ?"

"सिपाही आया है। जेलरसाहब का हुकुम है।"

मैंने सिपाही से कहा, "भाई, इसे यहीं रहने दो। हम लोग जेलर से बात कर लेंगे।"

सिपाही ने कहा, "बाबूजी, हम क्या कर सकते हैं? एक बार तो जाना ही पड़ेगा। फिर आप जेलरसाहब से बात करके इसको वापस बुला सकते हैं।"

धीरेन बोला, "बाबूजी, दुर्भाग्य मेरा साथ नहीं छोड़ता। आपकी कोशिश व्यर्थ है। मुझे उसके भरोसे छोड़ दीजिए। आप जैसे लोगों के के साथ मैं कैसे रह सकता हूं!"

दूसरे दिन जब जेलर आया, तो हम लोगों ने उससे धीरेन को हमारे पास रहने देने के लिए कहा, पर वह राजी नहीं हुआ। कहने लगा, "बड़े जमादार ने उसकी यहांपर रहने की शिकायत की है। मैं उसको यहां नहीं रख सकता।"

जेल में एक वार्ड और दूसरे वार्ड में ४०-५० गज का ही फासला होता है, पर वह फासला भी कितना अधिक है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। इसलिए इसके बाद धीरेन मुझसे न मिला और न मैं ही कभी धीरेन से। रात को जब नींद टूट जाती या कम आती तो मन में तरह-तरह के विचार उठते। उनमें धीरेन की कहानी को लेकर अनेक कल्पनाएं तथा हम लोगों से विदा होते समय की उसकी आकृति मन और आंखों में घूमा करती। आज भी उसकी पूरी कहानी जानने की प्रबल इच्छा है, और वह क्या हो सकती है, इस सम्बन्ध में नाना कल्पनाएं उठा करती हैं। धीरेन ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य किसी अज्ञात के इशारे से क्या से क्या हो जाता है!

२ : रामलाल

नाटे कद का एकहरा वदन और काला रंग, एक आंख में फुलड़ी, सिर पर राजनैतिक वन्दियों के सुवह के नाश्ते का वोझ और हाथ में चाय की पतीली लिये उसे मैंने आते देखा। नाश्ता देकर वह चलता वना। थोड़ी देर वाद फिर किसी काम से आया, ग्यारह वजे खाना लेकर आया और फिर शाम को खाना लाया। सव मिलाकर हमारी हाजत में वह सात-आठ वार आया होगा। इसी तरह वह वरावर आया करता।

तीन-चार दिन वाद हम कुछ आदमी वड़ी हाजत से वदलकर यूरोपियन वार्ड में लाये गये। यहीं हम लोगों का खाना वनता और यहीं से वह हम लोगों की चीजें लेकर वड़ी हाजत में दिन में कई वार जाया करता। अव तो उसको हम लोगों के सव काम करने का भार सौंपा गया। हम लोग कुल दस आदमी थे और वहां दस के ही रहने की जगह थी। इसमें से तीन आदमी निरामिषभोजी थे, इसलिए उनका इन्तजाम अलग था, वाकी सात की सेवा का भार उसपर पड़ा। रसोई वनानेवाले और भी आदमी थे, पर इन सात आदमियों के सारे काम उसे ही सौंपे गये। उसको यहां के लोगों में से कोई तो 'काना' नाम से पुकारता और कोई 'वुड्ढा' कहकर। उसके साथी कैदी भी उसे इन्हीं नामों से पुकारते। पर उसको चाहे जिस नाम से पुकारो, वह वहां आता था।

मुझे उसका 'काना' नाम वहुत ही वुरा लगा और उसे 'वुड्ढा' कहकर पुकारना भी ठीक नहीं जंचा, इसलिए एक दिन मैंने उससे पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?

वह हँसा और वोला, "जी, समझ लीजिए। 'काना' भी कहते हैं 'वुड्ढा' भी कहते हैं।"

"नहीं, यह तो तुम्हारी उम्र से या आंख की वजह से कहते हैं। तुम्हारा असली नाम क्या है ?"

"नाम ? नाम तो रामलाल है।"

"कहां के हो ?"

"यहीं का ।"

"नहीं, तुम्हारा देश कहां है ?"

"देश तो उड़ीसा है ।"

"तुम्हारे घर पर कौन-कौन हैं ?"

"एक भौजाई है और एक उसका वेटा ।"

"उसका वेटा कितना वड़ा है ? क्या तुमने विवाह नहीं किया ?"

"मैं विवाह कैसे करता ? भौजाई तो वेचारी विधवा है ।"

"तो इससे क्या ? तुमने विवाह क्यों नहीं किया ?"

"नहीं, यह मेरा धर्म नहीं । उसको तथा उसके वेटे को खाना देना मेरा धर्म है । मैं विवाह करता, तव तो वस मैं उनको भूल ही जाता ।"

"तुम्हारे भाई को मरे कितने दिन हुए ?"

"पन्द्रह-वीस वर्ष हो गये होंगे ।"

"उसका लड़का कितना वड़ा है ?"

"होगा कोई ग्यारह-बारह साल का ।"

"तो क्या वह तुम्हारे भाई के मरने के वाद पैदा हुआ ?"

"राम-राम, वह वहुत अच्छी है । ऐसी वात मुंह से मत निकालिए ।"

"तुम तो कहते हो, भाई को मरे पन्द्रह-वीस वर्ष हुए होंगे और लड़का ग्यारह-वारह साल का है । तव भाई को मरे इतने वर्ष नहीं हुए होंगे । तुमने उससे विवाह क्यों नहीं कर लिया ? तुम लोगों में तो ऐसे विवाह होते हैं ।"

"उससे विवाह करता ? वह तो मां है, मां !"

"अच्छा, तुम्हारी उम्र कितनी है ?"

"तीन कुड़ी[1] से ज्यादा होगी ।"

मैंने मजाक किया, "चार-पांच कुड़ी होगी ।"

---

१. कोड़ी (अर्थात् २०) का उच्चारण बंगाल-उड़ीसा में 'कुड़ी' ही किया जाता है ।

"पांच कुड़ी तो पूरे सौ होते हैं। इतनी नहीं। चार कुड़ी तो ज्यादा है, हो भी सकती है।"

रामलाल सुबह छः बजे आता है और शाम को छः बजे चला जाता है। इन बारह घंटों में वह कभी बैठता नहीं। जिस तरह तेली बैल को घानी में जोत देता है और उसकी आंखें बांध देता है, फिर वह फिरता ही रहता है, उसी तरह रामलाल भी है। पर उसको भौजाई की रक्षा में धर्म मालूम होता है, न जाने यह क्या बात है!

जेल में दो हजार से ज्यादा ही कैदी हैं। इनमें शायद ही कोई हो, जो तमाखू-बीड़ी न खाता-पीता हो। और यहां तमाखू पीना गुनाह है।

रामलाल भी तमाखू खाता है और इतनी खाता है, जितनी मिल सके। फिर भी यदि उसके पास से कोई मांगता है, तो वह यह खयाल नहीं करता कि जब उसे जरूरत होगी, तो कहां से आयगी। वह मांगने-वालों को दे ही देता है। इस मामले में वह कर्ण से कम नहीं है।

रामलाल यह खयाल नहीं करता कि अमुक चीज अमुक आदमी की है। वह जिसको जिस चीज की जरूरत हो, दे देता है। जब उससे पूछा जाता है कि अमुक चीज जो वहां थी, कहां गई, तो वह कहता है कि वह तो अमुक को दे दी। उससे पूछा जाय कि बिना हमसे पूछे क्यों दे दी, तो वह कहता है कि उसने मांगी थी, उसे जरूरत थी, इसीलिए दे दी। यदि उससे कहा जाय कि हमें भी उसकी जरूरत है, तो वह कहता है, तब तो बड़ी 'मुश्किल की बात' है। यह 'मुश्किल की बात' उसका तकिया-कलाम-सी हो गई है। कोई उसपर नाराज हो, वह बुरा नहीं मानता, और खुश हो, तो भी उसपर कोई खास असर नहीं होता।

१० फरवरी, १९४३ को जब गांधीजी ने २१ दिन का उपवास शुरू किया तो रामलाल पूछा करता, "गांधी महात्मा की क्या खबर आई है?" जब महात्माजी की अवस्था खराब होने लगी और हम लोग चिन्तित हुए, तो उसने कहा, "गांधी महात्मा तो भगवान हैं, उनका कुछ बिगड़ेगा नहीं। वह अच्छे हो जायंगे। उनको कौन मार सकता है?" लेकिन बावजूद इस आत्मविश्वास के उसको गांधीजी की खबर जानने

की उत्सुकता बराबर रहती थी।

सात आदमियों की कोठरियों की सफ़ाई करना, सामने का बरामदा साफ करना, किसीको गरम पानी-नीबू, तो किसीको ठंडा पानी; किसी को चाय, तो किसीको दूध; किसीको कुछ, तो किसीको कुछ—यह सब वह सुबह से शाम तक करता रहता है। इसके अलावा सबके कपड़े धोता है, जूठे बरतन साफ करता है, नहाने के लिए ठंडा या गरम पानी देता है। मतलब यह कि वह कभी ज़रा भी विश्राम करते नहीं देखा गया। भोला इतना है कि उसे जो कोई जैसा कहे, सब सच ही मानता है। लगभग सभी उससे मजाक किया करते हैं। कभी कोई आदमी बीमार होता है, तो वह उसकी बेहद सेवा-सुश्रूषा करता है। वह साथी कैदियों के सुख और सुविधा का सदा खयाल रखता है। यदि हम लोग कभी उसे कोई चीज देते, वह साथी कैदियों को देकर खाता तथा उनकी तकलीफों के लिए हम लोगों से सिफारिश भी करता। उसे अपनी उतनी फिक्र नहीं, जितनी दूसरों की।

एक दिन हमारे वार्ड के राजबन्दियों ने दूसरे वार्ड के कुछ बन्दियों को दावत दी। इससे रामलाल का काम बहुत बढ़ गया—पहले ही वह कौन कम था। दिन-भर वह खूब दौड़ता रहा। शाम को खाकर दूसरे वार्ड में बन्द होने गया और वहां बीमार पड़ गया। उसे एक कै हुई और कुछ दस्त आये। सुबह होते-होते उसे बुखार चढ़ आया। पर ज्योंही वह हमारे वार्ड में आया, तो फिर उसी तरह काम करने लगा। मैंने उससे कहा, "तुम यह क्या करते हो? कुछ विश्राम करो।" बोला, "अच्छा, विश्राम करूंगा।"

एक जगह वह सो गया और अपने-आप बात करने लगा, "विश्राम करो, बस विश्राम करो; पर विश्राम कैसा? विश्राम करने से तो फिर विश्राम ही हो जायगा। नहीं, मैं मूर्ख हूं। मुझे विश्राम नहीं, काम करना चाहिए। रात में अच्छा लगा, ज्यादा खा लिया। मूर्ख हो गया, अब फिर मूर्ख हूं, विश्राम जो करता हूं। नहीं, मुझे काम करना चाहिए। काम करने से आदमी ठीक रहता है।"

थोड़ी देर बाद देखा, तो वह अपना सारा काम फिर सदा की भांति

कर रहा है। यह रामलाल 'शीतोष्णसुखदुःखदा' है, 'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' है और है 'निर्ममो निरहंकारः।' यदि हम सफेदपोश लोग सोचकर देखें, तो उसने किसका क्या बिगाड़ा है ? वह संसार से क्या लेता है ? उसकी जरूरतें कितनी हैं ? वह पूरा आत्मत्यागी है। दिन-भर मेहनत करता है और सिर्फ पेट भरने के सिवा उसकी कोई मांग नहीं। वह दूसरों को कितना अधिक देता है और स्वयं कितना कम लेता है, यह सोचने की बात है।

३ : दत्तात्रेय

बात तीस वर्ष से भी ज्यादा पुरानी है। मैं खादी भंडार में बैठा काम कर रहा था कि एक लड़का आया। उम्र शायद सोलह-सत्रह की रही होगी। बोला, "एक रुपया दीजिए।" मैंने उसकी ओर गौर से देखा और रुपया दे दिया। वह चला गया, कुछ नहीं बोला। सात-आठ दिन बाद फिर आया और बोला, "एक रुपया दीजिए।" मैंने फिर उसकी ओर देखा, एक मिनट उसको समझने की कोशिश की—मन-ही-मन—और एक रुपया दे दिया। सात-आठ दिन बाद वह लड़का फिर आया। चुप, कुछ बोला नहीं, मैंने पूछा, "क्या बात है ?" वह बहुत उदास था, कमजोर तो पहले से ही था और भी कमजोर दुबला-पतला निहायत थका-सा निराश और कैसा ही लग रहा था। मैंने उससे ज़रा ज्यादा सहानुभूति के स्वर में पूछा, "क्या बात है ?"

"मैंने आपसे दो बार एक-एक रुपया मांगा। आपने दे दिया। मैंने पहली बार ही सोचा था कि इस रुपये की कोई चीज खरीदकर उसकी बिक्री करके जो दो-चार पैसे मिलेंगे, उससे खा लूंगा और काम चला लूंगा। पर यह हुआ नहीं, रुपया खत्म हो गया, खाने में। फिर साहस करके आया और मांग लिया। मिलने पर सोचा, इस बार तो निश्चय

ही काम चला लूंगा, पर वह नहीं हो सका। रुपया खत्म हो गया। अब मैं आपसे मांगने नहीं आया हूं, न लेना चाहता हूं। आप दें तब भी नहीं। क्या करूं, कैसे करूं, यह बतायें या कोई काम दें।"

भाई मूलचन्दजी अग्रवाल के पास भेज दिया और पच्चीस 'विश्वमित्र' बेचने के लिए देने को लिख दिया। उसने बहुत कोशिश की, पर पन्द्रह-सोलह से ज्यादा नहीं बेच सका। बाकी लौटाने के लिए लिखकर जितना वह मांगे उतना 'विश्वमित्र' उसको दे और न बिकने पर लौटा ले, ऐसी बात हो गई। उन दिनों 'विश्वमित्र' का दाम दो पैसा था और एक बेचने पर आधा पैसा कमीशन मिलता। उसके रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध कर दिया। 'विश्वमित्र' की बिक्री से वह दस-बारह पैसा कमाता। शाम को कैंची, सूई, तागा आदि बेचता, पर चार-पांच आने से ज्यादा रोजाना नहीं कमा पाता। खाने-पीने का इन्तजाम था, पर वह खुश नहीं था। पच्चीस रुपये महीने पर एक प्रेस में उसकी नौकरी लगी। सुबह आठ बजे जाता, रात में नौ-दस बजे आता। बहुत ज्यादा परिश्रम करना पड़ता उसे। वह कमजोर था और भी कमजोर होता जा रहा था। मैं उसको देखता तो कष्ट होता, पर वह किसी प्रकार की शिकायत या अन्य बात न करता। अपना काम चुपचाप बड़ी सच्चाई और नियमितता से करता रहता।

उन दिनों शुद्ध खादी भंडार की एक शाखा मुरादाबाद में थी। वहां खादी-उत्पादन का तथा आश्रम का काम भाई महाबीरप्रसादजी पोद्दार चलाते थे। एक भंडार दिल्ली में हम लोग उसकी ओर से चलाते थे। भाई पोद्दारजी कलकत्ता आये तब मैंने उनसे कहा कि पोद्दारजी, एक लड़का मेरे पास है। वह मुझे बहुत भला लगता है, पर कष्ट में है। किसी प्रकार की सहायता वह नहीं लेना चाहता। उसको जो काम करना पड़ता है, उसमें जो मेहनत करनी पड़ती है, उससे वह बीमार हो जायगा। उसको आप ले जाइए। वहां चीजें सस्ती हैं। उसको ज़रा दूध-दही आदि अच्छा खाना मिल सके, इसका प्रबन्ध कर दीजिए तो वह बचेगा, नहीं तो मर जायगा। लड़का बहुत भला मालूम होता है। पोद्दारजी उसको ले गये। वहां उसने

काम किया, तो वह एक खास योग्य आदमी साबित होने लगा। उसकी आवश्यकता केवल खाने-भर की थी। पांच-छः महीने में वह काफी तंदुरुस्त हो गया। शरीर थोड़ा भर आया था। वहां की आबोहवा और खाना, पीना, रहना सबका उसके शरीर पर काफी असर पड़ा। काम तो वह इतना करता था कि उसके जैसा काम करनेवाला वहां कोई दूसरा आदमी ही न था। एक वर्ष में वहां का सब काम जान गया और एक-प्रकार से व्यवस्थापक का काम करने लगा। उससे कई बार कहा कि तुम रुपये ले लो, जो चाहे वह ले लो। कम-से-कम सवा सौ रुपया महीना तो उसे मिलना ही चाहिए था, पर वह पांच-दस रुपया भी न लेता। जरूरत पड़ने पर दो-चार लेता, वह भी कभी ही। पोद्दारजी उसपर फिदा रहते। एक-दो वर्ष ऐसे ही बीते होंगे। एक दिन उसने पोद्दारजी से कहा, "मुझे दोसौ रुपये चाहिए।" पोद्दारजी ने कहा, "जितने चाहिए, ले लो, पर क्या करोगे ?" उसने कहा, "घूमने जाऊंगा।" उन्होंने रुपये दे दिये। वह चला गया। लौटा नहीं, न पत्र आदि आया। चिन्ता होने लगी हम सबको, पर क्या करते ! महीना-दो महीना निकल गया।

मैं और पोद्दारजी शुद्ध खादी भंडार में बैठे बात कर रहे थे। एक महाराष्ट्री सज्जन आये। उमर पचास के करीब होगी, काली टोपी, कमीज, कोट, ऊंची-सी धोती, नाटे-से थे वह। कुरसी पर बैठाया। बड़े निराश-से, थके-से मालम हो रहे थे। दो-चार मिनट बाद उन्होंने अपनी पाकेट से एक फोटो निकाली और कांपते हुए हाथों से भर्राई हुई आवाज में हमें देते हुए बोले, "यह लड़का आपके यहां..." हमने फोटो को ध्यान से देखा। पोद्दारजी ने मुझसे कहा, "यह तो दत्तात्रेय की फोटो मालूम होती है।"

उन सज्जन ने कहा, "यह लड़का मेरा भानजा है। इसके पिता हैदराबाद में एक बड़े पद पर काम करते हैं। लड़के ने मैट्रिक की परीक्षा दी। उसके बाद वह घर से चला गया, कहां गया, पता नहीं। इन दो वर्षों में हमें जहां भी कुछ पता लगा वहां-वहां गये। हजारों रुपये खर्च किये, पर पता नहीं लगा। इसके माता-पिता रात-दिन इस दुख में घुले जा रहे हैं।

उस लड़के की वृत्ति और स्वभाव इतना अच्छा था कि हम उसको भूल नहीं पा रहे हैं। महाराष्ट्री सज्जन ने कहा, "आपकी दूकान गांधीजी की दूकान है। वह लड़का ऐसी जगह आ सकता है, इसलिए हम आपके पास आये हैं।"

हमलोग क्या कहते ! उस आदमी को कुछ कहते बनता नहीं था। फोटो सचमुच उस लड़के की थी। हमें कहना पड़ा कि वह हमारे पास दो वर्ष तक रहा, पर दो महीने हुए, हमसे छुट्टी मांगकर सैर करने के बहाने चला गया और नहीं आया, न कोई पता बताया, न कोई पत्र लिखा। हमारा मन भी उसे खोज रहा है।

उस अधेड़ आदमी ने सिर पीट लिया और रोने लगा।

उस दत्तात्रेय का हमको आजतक पता नहीं, पर न मालूम उसकी कितनी बार याद आती है। बात बहुत छोटी होते हुए भी इतनी गहरी और मन की गहराई को छूती है कि आज भी मेरा मन उसे खोज ही रहा है।

४ : बटोही

सुबह मैं प्रतिदिन ढकुरिया लेकर घूमने जाता हूं। दो-तीन दिन से वहां एक बूढ़े आदमी को देख रहा हूं। इस आदमी को देखकर मन में कई तरह के विचार चलते रहे। सोचा, क्या सिद्धार्थ ने किसी ऐसी ही क्षीणकाय जरा-पीड़ित देह के दर्शन करके अपने संवेदनशील मानस में भीषण विकलता का अनुभव किया था। मेरे एक मित्र हैं, प्रायः हम दोनों एक साथ घूमते हैं। मैंने उनसे कहा, "भाईसाहब, इस आदमी से बातें करने को जी चाहता है। चलिये, बातें करें। आप ऐसे दुखी लोगों से अच्छी बातें कर सकते हैं। चलिये, आप ही शुरू कीजियेगा। मेरे मित्र बहुत पर-दुखकातर हैं। वह गरीब और दुखी के हृदय में प्रवेश

पा जाते हैं ।"

नजदीक से देखा उस मानव-तनधारी को। उसकी कमर इतनी झुक चुकी है कि वह आकाश को नहीं देख सकता और अपने हाथों को लटकाकर नहीं चल सकता, क्योंकि हाथों को लटका दे, तो वह जमीन से थोड़े ही ऊंचे रह जायंगे। इसलिए वरबस हाथों को कमर के पीछे लगाकर वह चलता है और शायद ऐसा करने से उसे कुछ जोर भी मिल रहा हो। कुदाली को पीठ पर वायें हाथों के सहारे लिये, फटी मैली धोती पहने, चिथड़े-जैसी पगड़ी सिर पर लपेटे, झुरियों से भरा मुख, छोटी-छोटी आंखें, जो बुढ़ापे के कारण अन्दर धंस चुकी हैं, वह अपनी टुकुर-टुकुर चाल से चला जा रहा था। वह किसी ओर नहीं देखता। हम दोनों थोड़ी दूर तक उसके साथ-साथ चले। अपनी समाधि में स्थिर किसी योगी की तरह वह अपने ध्यान में चलता रहा। अव सवाल यह था कि उसे क्या कहकर सम्वोधन करें? वूढ़ा कहना अच्छा नहीं लगता। कुछ सूझा नहीं उसे सम्वोधन करने को। अन्त में ऐसे ही वात शुरू कर दी, "कहिये, कहां जा रहे हैं ?"

वह हमारी तरफ विना देखे ही वोला, "काम पर जा रहा हूं।"

"रहते कहां हैं ?"

"वालीगंज स्टेशन के पास !"

"काम करने कहां जा रहे हैं ?"

"टालीगंज ट्राम-डिपो की लाइन में।"

मैंने मन में सोचा, टालीगंज और वालीगंज स्टेशन का तो काफी फासला है। कितनी देर में पहुंचेगा यह वहां और उसकी यह अवस्था इतनी दूर चलने लायक है ? पर मित्र ने दूसरा प्रश्न कर डाला, उनसे, जिससे मेरा ध्यान भी उस तरफ फिर गया।

"क्या पाते हो काम करने का ?"

"पता नहीं, शायद एक रुपया रोज मिलेगा।"

"तो क्या यह काम अभी करने लगे हो ?"

"हां, वावूजी, रोज-रोज काम थोड़े ही मिलता है।"

मित्र ने दूसरा प्रश्न किया, "तुम्हारी उमर कितनी है ?"

"बावूजी, मालूम नहीं।"

मैंने कहा, "सत्तर के ऊपर होगी।"

"हम तो जानत नाहीं।"

मित्र ने कहा, "कुड़ी जानते हो।"

"जानत हैं।"

"दो-तीन कुड़ी होगी क्या ?"

"इससे तो ज्यादा होत।"

मैंने कहा, "देश कहां है ?"

"समझता नहीं, बाबू !"

मित्र ने पूछा, "कभी मुलक गये थे ?"

"हां, गया था। पिछले वर्ष गया था।"

"वहां तुम्हारे कौन हैं ?"

"सबन हैं।"

मित्र ने कहा, "लड़के हैं तो, स्त्री है तो, तुम इस उमर में यहां क्यों रहते हो ?"

"क्या करूं, पेट तो भरना ही पड़ेगा।"

"क्या वे लोग तुम्हें खाना नहीं देते ?"

"बावू, खेती-बारी है नहीं उनकी। फिर कौन किसीको देता है ! देनेवाला सबको देता है।"

उसके यह कहने में कि कौन किसीको देता है, उसकी सारी व्यथा व्यक्त हो रही थी। यह उमर, यह शरीर और इतनी मेहनत क्या कोई सहज ही और योंही कर सकता है ? पर वह अपने घर के लोगों से, समाज-व्यवस्था से त्रस्त है। उसे बाध्य होना पड़ता है इतनी दूर चलकर ट्राम डिपो में कुदाली चलाने पर। थकावट के कारण ज़रा सुस्ताने की कोशिश करता है, तो सरदार की झड़कियां खानी पड़ती हैं और कभी मजदूरी काट लेने का भय दिखाया जाता है।

उसने कहा, "न बावू, पेट तो भरना ही पड़ेगा। इसीलिए इस गढ़े को भरने के लिए मान-अपमान, दुःख-सुख सभी कुछ सहना पड़ता है।" उससे अलग होते समय मित्र ने पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है ?

उसने कहा, "बटोही।" मैंने कहा, "सचमुच यह बटोही ही है।" मैं घर आ गया और नाश्ता करने लगा, पर मस्तिष्क में उस बूढ़े की वह शक्ल घूम रही थी, उसकी व्यथाभरी आवाज कानों में गूंज रही थी। मैं सोचने लगा, यह आदमी क्या हमारे देश की हालत का प्रती नहीं? जिस देश में स्त्रियां पेट के लिए तन बेचें, बच्चे बिलख-बिलखकर मर जायं और इस तरह का आदमी कुदाली चलाने जैसा कठोर धन्धा करने पर बाध्य हो, वहां मानवता का विकास कैसे हो सकता है!

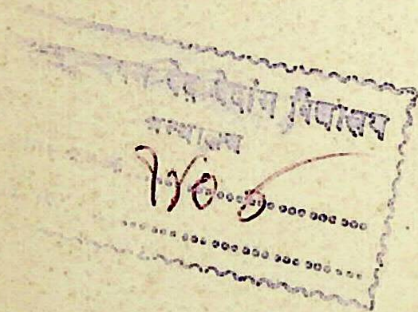
५ : दो दृश्य

कल रात को यहां खूब वर्षा हुई। गंगा के किनारे की जमीन कीचड़ से भर गई, इसीलिए मुझे अपने प्रातःकाल के वायु-सेवन के लिए सदर रास्ते पर चलना पड़ा। नाना प्रकार के विचारों में निमग्न मैं करीब दो मील निकल गया। मैं अपने पथ पर अकेला था और मेरी चाल तेज थी। एकाएक एक आवाज आई और मेरे पैर रुक गये। सामने एक आदमी खड़ा था और उसके सामने भीगे हुए कम्बल का एक पुलन्दा। वह आदमी उस पुलिन्दे की तरफ मुंह किये कुछ बातें कर रहा था। एक निर्जीव चीज से बातचीत! मैं उस आदमी के नजदीक गया और मैंने जो कुछ देखा, उसकी याद आजतक मेरे रोम-रोम को कंपा रही है। मैं उसे भूलने की कोशिश कर रहा हूं, किन्तु उसकी तस्वीर इतनी ताकतवर है कि मेरी दुर्बल आंखों का पानी बार-बार कोशिश करने पर भी उसे मिटा नहीं पाता।

मैंने देखा, उस कम्बल के पुलिन्दे में जान थी। वह कम्बल का पुलिन्दा एक मनुष्य था, मेरे ही समान चेतनामय। वह गरीब था। किसीने दया कर वह सूती कम्बल दे दिया था। वही उसका एकमात्र कपड़ा था। दुर्भाग्य से उसमें आग लग गई थी! उस कम्बल में कई छेद हो गये थे और उन छेदों में से आग की लपटें उसके शरीर को भी

जला गई थीं। जलने पर भी वह उसी कम्बल को लपेटे शरीर के दर्द, वर्षा की बौछारें और रात की ठंड को सहता रहा। वह एक वृक्ष के नीचे पड़ा था। शायद वह वृक्ष को अपनी रक्षा का साधन समझे हुए था। उसका चेहरा देखने से मालूम होता था कि वह कराहने की कोशिश कर रहा है, किन्तु उसके मुंह से आवाज नहीं निकल पाती थी। मैंने उसके पास खड़े हुए आदमी से उसके जलने का कारण पूछा तो मालूम हुआ कि उस अभागे ने कपड़े की कमी के कारण आग में अपनी सर्दी मिटाने की कोशिश की थी और इसीलिए वह जल गया है। अस्पताल में उसके लिए जगह नहीं थी। दुनिया में उसका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं था। मैंने जब जले हुए घावों को दिखाने के लिए कहा, तो उस आदमी ने ज़रा-सा वह कम्बल सरका दिया, और मैंने देखा मनुष्य के शरीर का वह भयंकर रूप, जिसकी याद ने मेरे प्राणों में एक घाव बना दिया है। उस आदमी ने बताया था कि उस अभागे का कोई नहीं है। मुझे एकाएक ईश्वर की याद आ गई; क्योंकि जब दूसरा नहीं होता, तब भगवान की याद आ ही जाती है। मेरे मन ने सवाल किया, "क्या जगत-पिता कहलानेवाला परमात्मा भी उस अभागे का कोई नहीं है? क्या उस ईश्वर की सृष्टि में ऐसे भी जीव हैं, जो वस्त्रहीन, अन्न-हीन, भूखे-प्यासे, बीमार और दर्द से कातर होकर यह महसूस करते हैं कि उनका कोई नहीं है? और वह भी उस विशाल सम्पत्ति के केन्द्र कलकत्ता से केवल ३५ मील की दूरी पर! मन की एक अजीब हालत हो गई। उस ग्रामीण भाई से सलाह की कि उसके लिए क्या किया जा सकता है। वह इस देहात का एक भयंकर दृश्य था। मैं आगे बढ़ा। अचानक मेरी नजर पड़ी दो उछलते-कूदते बछड़ों पर। उन्हें संसार में आये पन्द्रह-बीस ही दिन हुए थे। रंग बिलकुल सफेद था। मस्तक कुछ-कुछ लाल और पीला था। चारों तरफ वे दौड़ रहे थे। वे खुद बहुत सुन्दर थे। संसार भी उन्हें बहुत सुन्दर मालूम होता था, इसीलिए वे खुश भी बहुत थे। वे भी [illegible] को [illegible] करते थे। उस अभागे गरीब ने भी आकर्षित किया था। पर दोनों के संसार में कितना अंतर था!





'मंडल' का संस्मरण-साहित्य

राष्ट्रपिता
मेरे हृदयदेव
मानवता के दीये
मानवता के झरने
मेरे संस्मरण
मील के पत्थर
कुछ शब्द : कुछ रेखायें
कुछ देखा : कुछ सुना
बोलती तस्वीरें
श्रेयसाधक
एक युग : एक पुरुष
बीता युग : नई याद



पांच रुपये